पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला

['तरुण जैन संघ' द्वारा आयोजित]

कलकत्ता, १९४०

प्रकाशक,

भँवरमल सिंघी

मंत्री,

तरुण जैन संघ,

४८, इन्डियन मिरर स्ट्रीट,

कलकत्ता

मूल्य—आठ आने

मुद्रक —
नवयुवक प्रेस,
३, कमर्शियल बिल्डिंगस्
कलकत्ता

विषय-सूचि

रेखाचित्र



प्राक्कथन



सम्वत् १९९३ में बम्बई में हुए पर्युषण के व्याख्यानों की पुस्तिका की भूमिका में श्रद्धेय पंडित सुखलालजी ने व्याख्यानमाला की उपयोगिता और उसके प्रति बढ़ती हुई लोकरुचि का वर्णन करते हुए यह भी लिखा कि "कलकत्ता जैसे शहरों में युवक लोग व्याख्यानमाला शुरू करने के विषय में विचार करें, इसमें तो देरी ही हो रही है, ऐसा समझना चाहिये।" पंडितजी के इन शब्दों में कलकत्ता के युवकों को प्रेरणा और उत्साह का आमंत्रण था, परन्तु उसकी तरफ कलकत्ता के युवकों का ध्यान नहीं गया। मैं उस साल बनारस से अपना अध्ययन समाप्त कर कलकत्ता आया ही था। इसलिये इच्छा होते हुए भी मेरे लिये तो पंडितजी के आमंत्रण को स्वीकार करना उस समय अशक्य ही था। परन्तु यह कल्पना तो उसी समय से मेरे मन में बराबर उठती रही कि कलकत्ता में भी पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला की शुरुआत की जाय। मौके मौके पर अन्य मित्रों से भी मैं अपनी यह इच्छा

जाहिर करता रहा और उनसे सहयोग की प्रार्थना भी करता रहा। हर वर्ष ज्यों ज्यों पर्युषण पर्व निकट आता त्यों त्यों मेरी इच्छा व्याख्यानमाला का निश्चय कर डालने के लिये बलवती होती। और अब तक कलकत्ता के जैन समाज के सार्वजनिक कार्यों में मैं थोड़ा-बहुत भाग भी लेने लग ही गया था। इस बीच में पूज्य पंडित से जब कभी मिलना होता, तो इस क्रम को शुरू करने के बारे में उनसे और भी प्रेरणा मिलती। पंडित बेचरदासजी ने भी अपने दो-एक पत्रों में इस आवश्यकता की तरफ ध्यान खींचा। परन्तु तीन वर्ष योंही निकल गये।

जुलाई सन् १९४० में कुछ मित्रों ने मिल कर 'तरुण जैन संघ' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य रखा गया—"समाज के उन सार्वजनिक सेवा की रुचि और भावना वाले नवयुवकों का संगठन करना जो सामाजिक धार्मिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रगतिशील विचारों के समर्थक हों, तथा जो बिना किसी जातीय अथवा साम्प्रदायिक भेदभाव के जैन समाज में प्रगतिशील विचारों के प्रसार द्वारा क्रांति उत्पन्न करने की नीति में विश्वास रखते हों।" इस संघ की स्थापना होते ही मेरे ध्यान में फिर दो महीने बाद ही आने वाले पर्युषण पर्व का खयाल आया, और वर्षों से इकट्ठी हुई प्रेरणा के साथ 'पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला' का आयोजन करने की इच्छा अपने आप संघ के सदस्यों के सामने प्रकट हो गई। और मित्रों ने उसे स्वीकार करते देर न लगाई। निश्चय तो हमने कर लिया किन्तु पहले का कुछ भी

अनुभव न होने के कारण और समाज के अधिकांश लोगों की नवीनता विरोधी मनोवृत्ति को जानते हुए, शुरू शुरू में हमें थोड़ी घबराहट सी हुई। हमने यह निश्चय किया कि जिन लोगों को पर्युषण पर्व के धर्म-कार्यों की चालू परम्परा में रस नहीं आता, जो उसमें भाग न लेने की इच्छा से घर पर ही बैठे रहते हैं, उनके उपयोग के लिये किसी एक सुविधाजनक छोटी सी जगह में व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाय। लेकिन जब वक्ताओं के चुनाव का सवाल आया, तब तो और भी कठिनाई आई क्योंकि कलकत्ता के जैन समाज में योग्य और समर्थ विद्वानों और विचारकों की संख्या परिमित ही है। स्थानीय जैनेतर विद्वानों के नाम तो हमने चुने ही, पर चूँकि जैन समाज के विद्वानों को बुलाने की तरफ भी हम ने विशेष लक्ष्य रखा था, इसलिये बाहर से कुछ विद्वानों को बुलाने की चेष्टा करने का भी निश्चय हुआ। इसी छोटी सी कल्पना के साथ हमने व्याख्यानमाला के आयोजन की रूपरेखा बनाई थी। पर, ज्यों ज्यों हमारे निश्चय की खबर समाज में फैलने लगी, त्यों त्यों उसके प्रति लोगों की रुचि और उत्सुकता देख कर हमारा उत्साह बढ़ता गया, और उसी समय से हमें व्याख्यानमाला की आशातीत सफलता नजर आने लगी। सब श्री पं० सुखलालजी, किशोरलालजी घ० मशरूवाला, काका साहब कालेलकर, पं० बेचरदासजी, महात्मा भगवानदीन, पं० दरबारीलालजी, और जैनेन्द्रकुमारजी आदि मुख्य मुख्य जैन व जैनेतर विद्वानों को व्याख्यान माला में आकर प्रवचन करने के लिये निमन्त्रण भेज दिया। और जब

सिवाय श्री किशोरलाल भाई और पं० बचरदासजी के सभी विद्वानो ने हमारा आग्रह स्वीकार कर लिया, तब तो हमारे उत्साह की सीमा ही न रही। श्रद्धेय काका साहब के इन शब्दों ने तो जैसे हमारे उत्साह के चार चाँद ही लगा दिए—

"बम्बई में जो पर्युषण-व्याख्यानमालाएँ चलती हैं, उनका असर बहुत ही अच्छा हो रहा है। श्री परमानन्द भाई और पं० सुखलाल जी की यह एक सफल प्रवृत्ति है। धर्मप्रेमी लोगों में रूढ़ि की दासता होती है। रूढ़ि तोड़ते धर्म-प्रेम भी क्षीण हो जाता है। बम्बई को पर्युषण-व्याख्यानमाला से धर्म निष्ठा बढ़े और साथ साथ उदारता व्यापकता और बुद्धि निष्ठा भी आ जाय ऐसा वायुमण्डल पैदा हो रहा है। कलकत्ता में वैसी प्रवृत्ति चलाने का आपने ठाना है यह अभिनन्दनीय बात है।'

उपरोक्त विद्वानों से कलकत्ता आने की स्वीकृति मिल जाने पर व्याख्यानमाला की हमारी शुरू की कल्पना तो जैसे कुछ भी नहीं रही और पूज्य पंडित सुखलालजी की इस सूचना के बावजूद भी कि 'बम्बई आदि में जैसा जन प्रवाह है कदाच कलकत्ते में वैसा न भी हो क्योंकि कलकत्ते में उतनी और वैसी शिक्षा देखी नहीं जाती और एक का अंश भी शायद अधिक हो, जो परस्पर मिलन से रोकता है', हमें कलकत्ता का जन प्रवाह व्याख्यान माला के आयोजन की सूचना से आकर्षित हुआ मालूम पड़ा और

याद में व्याख्यानों के दिनों में जो जैन और जैनेतर श्रोताओं की अपार भीड़ देखी गई, उससे हमारी यह धारणा सच्ची भी सिद्ध हुई।

'पर्युषण पर्व व्याख्यानमाला' की आवश्यकता और उपयोगिता के विषय में मैं यहां कुछ भी कहना नहीं चाहता क्योंकि मैं अपने आप को उसके लिये पूरा अधिकारी नहीं समझता। इस कमी को पूरी करने के लिये इस प्राक्कथन के बाद ही पं० सुखलालजी, जिन्होंने ही व्याख्यानमाला का क्रम चलाया है, का एक वक्तव्य छाप रहे हैं। पाठक उससे जान सकेंगे कि व्याख्यानमाला चलाने का उद्देश्य क्या है। बम्बई में गत ६-७ वर्षों से यह क्रम चल रहा है, और जैसा श्रद्धेय काका कालेलकर के उक्त शब्दों से प्रकट है, उससे बड़ा लाभ हुआ है। और अब तो कलकत्ते के समाज को स्वयं इस क्रम की उपयोगिता मालूम हो चुकी है। हमें तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि या तो इस व्याख्यानमाला के क्रम का स्थान स्थान पर प्रचार होगा जिससे युवक-मानस को स्पर्श करने वाली विचारधारा के विकास द्वारा धर्म निष्ठा का पोषण और विकास होगा, अन्यथा युवक पर्युषण पर्व की चालू परम्परा को वाहियात समझ कर उससे मुख हो मोड़ लेंगे। क्योंकि जिस धर्म में समयानुकूलता नहीं होती, उसके प्रति शुद्ध जन निष्ठा कायम नहीं रह सकती। इसलिये या तो युवकों में धर्म निष्ठा जागृत रखने और विकसित करने के लिये इस क्रम का विस्तार करना होगा, अथवा पुरानी परम्परा की रक्षा (!) के लिये विनाश को ही बुलाना होगा। गांधी-सेवा-संघ के भूतपूर्व

प्रमुख और प्रसिद्ध विचारक श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला ने भी 'इन में विचार और कर्तव्य की जागृति उत्पन्न करने के लिये खास इस तरह की व्याख्यानमालाओं' की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया है। भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में रहने वाले जैन युवकों को अपने अपने स्थान पर यह क्रम जारी करना चाहिये। इससे समाज की विभिन्न सम्प्रदायों में एकता का भाव उत्पन्न होगा, स्वतंत्र विचार-शक्ति को उत्तेजन और बल मिलेगा, और साथ ही व्यापक और उदार दृष्टि का विकास होने से धर्म के नाम पर होने वाला बहुत सा

। श्वेताम्बर, दिगम्बर और मन्दमार्गी, स्थानक-

आदि के भेद भाव को छोड़कर

बन्धुओं से क्षमा-याचना करनी है जिन्होंने हमारी सूचना के अनुसार उसी समय पुस्तक का अग्रिम मूल्य भी जमा करा दिया था। आशा है, देरी होने के कारण जानकर व भी हमें क्षमा करेंगे। देरी होने का एक मात्र कारण यही हुआ कि कई वक्ताओं से लिखे हुए व्याख्यान मिलने में बहुत विलम्ब हो गया। पुस्तक के प्रकाशन म देरी होने की बात अवश्य खटकने जैसी थी, परन्तु सभी वक्ताओं के व्याख्यानों का संग्रह करने का लोभ भी हम संवरण न कर सके। इस लोभ के वशीभूत होकर ही हमने इतनी देरी हो जाने दी। श्री काका साहब और श्री जैनेन्द्रकुमारजी के व्याख्यानों के लिये काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी, पर चूंकि उनके व्याख्यान इतने महत्व के थे कि किसी तरह से उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। हमें सन्तोष है कि इस देरी के कारण व्याख्यानमाला के पाठकों को जितनी प्रतीक्षा करनी पड़ी, उसके बदल उनको पूरा पूरा लाभ इस रूप में मिल जायगा कि एक व्याख्यान को छोड़ कर अब इस पुस्तक में सभी व्याख्यान आ गये हैं। इस तरह हमारी समझ में पाठकों को देरी का पूरा पूरा एवजा मिल गया है। छपे हुए व्याख्यानों के विषय में इतना और जान लेने का है कि चूंकि वक्ताओं ने व्याख्यान बाद में लिखकर भेजे हैं, इसलिये सम्भव है कि बोलते समय जो कुछ कहा गया होगा, उसकी अपेक्षा इनमें कमी-बेशी हो गई हो। पर व्याख्यानों के विषय और विचारों में कोई फरक नहीं पड़ा है।

प्रमुख और प्रसिद्ध विचारक श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला ने भी 'देश में विचार और कर्तव्य की जागृति उत्पन्न करने के लिये आप इस तरह की व्याख्यानमालाओं' की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया है। भारत वर्ष के विभिन्न स्थानों में रहने वाले जैन युवकों को अपने अपने स्थान पर यह क्रम जारी करना चाहिये। इससे समाज की विभिन्न सम्प्रदायों में एकता का भाव उत्पन्न होगा, स्वतंत्र विचार शक्ति को उत्तेजन और बल मिलेगा और साथ ही व्यापक और उदार दृष्टि का विकास होने से धर्म के नाम पर होने वाला बहुत सा ऊहापोह मिट जायगा। श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी एवं तेरापंथी आदि सम्प्रदायों के भेद भाव को छोड़कर जैन भाई-बहिनों को पर्युषणपर्व के पवित्र निवृत्तिमय दिनों में एक स्थान पर मिलने की प्रेरणा पैदा करने में यह व्याख्यानमाला बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। और जहाँ जहाँ यह व्याख्यानमाला अपने मूल ध्येय को कायम रखते हुए चलाई जायगी, वहाँ वहाँ इस दिशा में इसकी उपयोगिता सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगी।

× × × ×

यद्यपि व्याख्यानमाला में दिये हुए सारे व्याख्यानों को पुस्तकाकार छपाकर प्रकाशित करने का निश्चय उसी समय कर लिया था और उसकी घोषणा भी कर दी गई थी, परन्तु इस कार्य को पूरा करने में काफी विलम्ब हो गया, जिसके लिये पाठकों से क्षमा माँगने के अतिरिक्त और हम कर ही क्या सकते हैं। खास तौर से हमें उन

बन्धुओं से क्षमा-याचना करनी है जिन्होने हमारी सूचना के अनुसार उसी समय पुस्तक का अग्रिम मूल्य भी जमा करा दिया था। आशा है, देरी होने के कारण जानकर वे भी हमें क्षमा करेंगे। देरी होने का एक मात्र कारण यही हुआ कि कई वक्ताओं से लिखे हुए व्याख्यान मिलने में बहुत विलम्ब हो गया। पुस्तक के प्रकाशन में देरी होने की बात अवश्य खटकने जैसी थी, परन्तु सभी वक्ताओं के व्याख्यानों का संग्रह करने का लोभ भी हम संवरण न कर सके। इस लोभ के वशीभूत होकर ही हमने इतनी देरी हो जाने दी। श्री काका साहब और श्री जैनेन्द्रकुमारजी के व्याख्यानों के लिये काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी, पर चूंकि उनके व्याख्यान इतने महत्व के थे कि किसी तरह से उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। हमें संतोष है कि इस देरी के कारण व्याख्यानमाला के पाठकों को जितनी प्रतीक्षा करनी पड़ी, उसके बदले उनको पूरा पूरा लाभ इस रूप में मिल जायगा कि एक व्याख्यान को छोड़ कर अब इस पुस्तक में सभी व्याख्यान आ गये हैं। इस तरह हमारी समझ में पाठकों को देरी का पूरा पूरा एवज़ा मिल गया है। छपे हुए व्याख्यानों के विषय में इतना और जान लेने का है कि चूंकि वक्ताओं ने व्याख्यान बाद में लिखकर भेजे हैं, इसलिये सम्भव है कि बोलते समय जो कुछ कहा गया होगा, उसकी अपेक्षा इनमें कमी-बेशी हो गई हो। पर व्याख्यानों के विषय और विचारों में कोई फरक नहीं पड़ा है।

ये व्याख्यान कितने महत्वपूर्ण हैं, इसका विवेचन करने की मुझे जरूरत ही नहीं है। पाठक स्वयं ही जब इनको पढ़ेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि प्रत्येक वक्ता के भाषण में वाचन, चिंतन और अनुभव की कितनी गहरी विचार-सामग्री भरी हुई है। अनेक वक्ता तो अपनी विद्वत्ता और विचारशीलता के लिये भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध हैं। ऐसे लोगों के व्याख्यानों के सम्बन्ध में मैं कुछ भी चर्चा करूँ, वह अनधिकार चेष्टा ही तो होगी। पर इतना तो स्पष्ट है कि जिज्ञासु पाठकों को इन व्याख्यानों में जीवन-शोधन को उत्तेजन देनेवाले विचारों की अपूर्व सामग्री मिलेगी।

यद्यपि पर्युषण वैसे जैनियों का ही खास पर्व है परन्तु इस व्याख्यान माला में तो जैनेतर वक्ताओं के भाषण भी सग्रहित हैं। इसलिये इस पुस्तक का प्रचार जैन समाज तक सीमित न रह कर सर्व साधारण में भी होगा। सर्व श्री काका साहब कालेलकर, डा० कालिदास नाग, सतीश चन्द्र दासगुप्त आदि विद्वानों के भाषणों का इसमें होना कोई साधारण विशेषता नहीं है। हमारी आशा है कि जिस तरह इन सब विद्वानों के नाम से व्याख्यान सुनने के लिये जैन और जैनेतर लोगों की कई हजारों की संख्या में उपस्थिति होती थी उसी तरह इस पुस्तक के पाठकों की संख्या भी हजारों की होगी। जिनको व्याख्यानों के श्रवण की सुविधा नहीं हुई थी, उन्हें घर बैठे यह व्याख्यान मिल जावेंगे, और जिन्होंने श्रवण किया था, उन्हें अधिक धैर्यपूर्वक चिंतन और मनन करने का अवसर मिलेगा। यही इस पुस्तक को प्रकाशित करने का उद्देश्य है।

व्याख्यानमाला के समय उपस्थित होनेवाले जैन श्रोताओं के लिये कई वक्ताओं के दृष्टि बिंदु बिल्कुल नये होने के कारण उनके मन में कई तरह की जिज्ञासा और शंकाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसलिये व्याख्यानमाला के शुरू में ही श्रोताओं से यह निवेदन कर दिया गया था कि किसी भी वक्ता के भाषण के किसी मुद्दे पर अगर किसी सज्जन को किसी भाँति की शंका हो तो वह व्याख्यान के बाद उस वक्ता से मिल कर चर्चा द्वारा उस बात को समझ लें। हमें प्रसन्नता है कि व्याख्यानमाला में आनेवाले श्रोताओं ने शांति और धैर्यपूर्वक इस सूचना का पालन किया। सिर्फ श्री काका साहब कालेलकर के 'अहिंसा और विश्वविग्रह' शीर्षक व्याख्यान में जब महात्माजी के 'बछड़ा-वध प्रकरण' का समर्थन किया गया, तो श्रोताओं में से दो चार सज्जनों में उत्तेजना आ गई और उन्होंने व्याख्यान-मंडप में ही चर्चा करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु दूसरे दिन श्री काका साहब के यह कह देने पर—कि इस विषय में चाहिये उतना वे नहीं कह सके थे, इसलिये कुछ विशेष खुलासा की जरूरत थी—कोई विशेष ऊहापोह नहीं रहा। श्री काका साहब ने कहा कि वे लिखित रूप में बाद में उसकी चर्चा कर के अपनी बात को समझाने की चेष्टा करेंगे, और उस पर अगर कोई प्रश्न पूछा जायगा तो उसका उत्तर भी देंगे। अब श्री काका साहब ने हमें सूचित किया है कि 'जीवन साहित्य' नाम की मासिक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक पत्र में उन्होंने 'बछड़ा प्रकरण' के सम्बन्ध में कही हुई अपनी बात का खुलासा किया है।

हम उस पत्र का आवश्यक अंश इस पुस्तक के अन्त में श्री काशा साहब की इजाजत से छाप रहे हैं। इस सम्बन्ध में हम पूज्य पंडित सुखलालजी के शब्दों को दोहराते हुए यह कहना चाहते हैं कि, 'पर्युषण की पवित्रता इसी में नहीं है कि दूसरा आदमी भी हमारी इच्छा अथवा मान्यता के अनुसार ही बोले, लिखे या मनन करे; परन्तु हमारी श्रद्धा और इच्छा के विरुद्ध प्रसंग में भी हमारी उदारता कायम रहे, इसी में वह पवित्रता रहती है।' पर्युषणपर्व के पवित्र दिनों में तो हमें इतनी उदारता रखनी ही चाहिये।

हम निवेदन को मैं उन बन्धुओं को धन्यवाद दिये बिना समाप्त नहीं कर सकता जिनके सहयोग से व्याख्यानमाला का यह प्रथम आयोजन आशातीत सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। 'तरुण जैन संघ' के सदस्यों के अतिरिक्त स्थानीय जैन सभा के युवकों ने व्याख्यानमाला के समय इकट्ठी होनेवाली हजारों श्रोताओं की भीड़ में उचित व्यवस्था करने में जिस तत्परता और योग्यता का परिचय दिया, वह प्रशंसनीय था। मैं उन सज्जनों को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने प्रस्तावित 'जैन भवन' की भूमि पर श्री विजयेन्द्रसूरिजी महाराज के व्याख्यान के लिये निर्मित पंडाल व्याख्यानमाला के लिये देने की उदारता प्रदर्शित की। और कलकत्ता के तथा वर्धा, बनारस और दिल्ली आदि दूर के स्थानों से आए हुए विद्वान वक्ताओं के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना भी मैं अपना फर्ज समझता हूं। अनेक कष्ट उठा कर भी कलकत्ता आकर और अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर

हमारे प्रति उन्होंने जो कृपा की, उसके लिये हम सदैव उनके आभारी रहेंगे। इसके साथ साथ उन सज्जनों के प्रति भी आभार प्रकट करना मैं कैसे भूल सकता हूँ, जिन्होंने व्याख्यानमाला की उपयोगिता समझ कर उदारतापूर्वक हमें आर्थिक सहायता प्रदान की। और अन्तिम, किन्तु सब से जरूरी, धन्यवाद के पात्र हैं—श्रोतागण जिन्होंने प्रतिदिन व्याख्यानों में उपस्थित होकर व्याख्यानमाला की आशातीत सफलता में योगदान दिया। मैं इन सब लोगों के प्रति पुनः एक बार अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी इसी प्रकार 'तरुण जैन संघ' को उनका सहयोग मिलता रहेगा।

व्याख्यानमाला का क्रम तो प्रति वर्ष चलेगा ही करेगा, इसलिये जैन समाज के नवयुवकों से मेरा अनुरोध है कि अपना अधिकाधिक सहयोग प्रदान कर इस क्रम को अधिक आकर्षक, अधिक व्यापक और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करें। आज समाज और धर्म की प्रगति का पाया नवयुवकों पर ही टिका हुआ है, अतएव यदि वे अपने कर्त्तव्य-पालन में थोड़ी सी भी ढीलाई करेंगे तो उसके सब से कड़ुए फल उन्हें ही भोगने पड़ेंगे। 'तरुण जैन संघ' ने व्याख्यानमाला का जो यह क्रम शुरू किया है, उसमें यदि श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरापंथी, स्थानकवासी तेरापंथी, बंगाल, मारवाड़, थली और गुजरात आदि सभी प्रांतों के कलकत्ता स्थित युवकों का उदार और व्यापक दृष्टि को अपनाने वाला बुद्धिशाली वर्ग पूरा पूरा सहयोग और सहकार प्रदान करे, जिसका कि हमें पूरा विश्वास है, तो हम समाज, धर्म और राष्ट्र की एक अत्यन्त

वाञ्छनीय सेवा कर सकें। समाज और धर्म के चारों तरफ फैले हुए जिस वातावरण से आज निराशा-सी हो रही है उसके स्थान पर हम देखें—सामाजिक और धार्मिक सहिष्णुता की वृद्धि, सेवा और कर्तव्य की कल्याणप्रद भावना का प्रकाश तथा उदार, स्वतंत्र और व्यापक जीवन दृष्टि का विस्तार। आशा है सब के सहयोग से हमारी यह मंगल-कामना सफल होगी।

भंवरमल सिंघी
मंत्री
'तरुण जैन संघ



पर्युपण-व्याख्यानमाला किस लिए ?

इस व्याख्यानमाला का उद्देश्य गुरु पद प्राप्त करने या किसी के वास्तविक गुरु-पद का विनाश करने का नहीं है। उसी तरह इसका उद्देश्य पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने या अर्थ-प्राप्ति करने का भी नहीं है। जो लोग श्रद्धालु हैं, और आदर-भक्ति से पर्युपण की चलती परम्परा में रस लेते हैं, उन्हें क्रिया-काण्ड में से अथवा व्याख्यान श्रवण से पराङ्मुख करने का भी इस व्याख्यानमाला का उद्देश्य नहीं है। तब इसका उद्देश्य क्या है, यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है।

आज अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध की दृष्टि से, राष्ट्रीय दृष्टि से और समाज तथा कुटुम्ब की दृष्टि से कितने ही ऐसे प्रश्न उपस्थित हो गये हैं और होते जाते हैं, जो किसी भी तरह बिलकुल उपेक्षणीय नहीं हैं और उनका धर्म के साथ कोई भी सम्बन्ध न हो, ऐसी भी बात नहीं है। इसलिए व्यावहारिक तथा धार्मिक दृष्टि से उन प्रश्नों की चर्चा करना जरूरी है। दूसरों की जरा भी परवाह किये बिना अपना तन्त्र चलाने वाले किसी एकाकी पूंजीपति जैन व्यापारी को कोई राष्ट्र सेवक जा कर नम्र शब्दों में कहे कि "आप स्वदेशी कपड़े पहनिए। और कोई बाधा न हो, तो

प्रश्न उठते ही रहते हैं। इन लोगों में बहुत से तो इन प्रश्नों का निराकरण परम्परा से चली आई हुई धार्मिक दृष्टि से करना चाहते हैं, पर इन विचार प्रेमियों में एक वर्ग ऐसा भी है जिसे पर्युषण की चालू परम्परा में रस नहीं आता, इसलिए वह इन पुण्य दिवसों में प्राप्त हुए समय का उपयोग या तो बातचीत में, या इधर उधर भटकने में अथवा अनावश्यक और अव्यवस्थित तर्क-वितर्क में करता है। इसके बदले उन्हें विचार करने की, विचार सुनने की और निर्णय करने की सुविधा दी जाय तो वे कदाचित् क्रिया काण्ड की दृष्टि से नहीं, तो भी विचार और सदाचार की दृष्टि से तो जैन बने रहेंगे ही।

जमाना जब विचार-जागृति और ज्ञान के वातावरण के लिए उत्सुक हो, तब योग्य रूप से उस उत्सुकता को पूर्ण करने में ही कल्याण है। इसलिए वास्तव में यह व्याख्यानमाला पर्युषण की जो परम्परा चली आ रही है, उसकी सामयिक पूर्ति मात्र है। अधिक अच्छा और योग्य कार्य तो तब होगा कि जब धर्मगुरु खुद धर्म स्थानों में इन सभी प्रश्नों पर विचार पूर्वक और उदारता पूर्वक असाधारण प्रकाश डालेंगे। वह समय जल्दी आए, इसीलिये यह व्याख्यानमाला है।' जब चारों ओर जिज्ञासा, ज्ञान और विविध तरह के विचारों का वातावरण पैदा होगा, तब आचार्य महाराजों के लिए भी इस भूमिका पर आना सरल हो जायगा, कारण कि वे जिन धर्मस्थानों में रहते हैं, वहाँ प्रकाश बहुत ही धीरे धीरे प्रवेश करता है। इसलिये ऐसी व्याख्यानमालाएँ केवल जिज्ञासुओं को ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ाने के लिये ही हैं।

--पण्डित सुखलालजी

पर्युषणपर्व व्याख्यानमाला, कलकत्ता

सन् १६४० का

संक्षिप्त कार्य-विवरण

ता० २६ अगस्त से ४ सितम्बर सन् १६४० तक सात दिनों के लिये इस व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया था। ये व्याख्यान नित्य शाम को ७।। बजे से ६।। बजे तक कालाकर स्ट्रीट मे प्रस्तावित 'जैन भवन' की भूमि पर निर्मित पडाल मे हुए, जहाँ पर हजारो श्रोताओं की इतनी भीड जमा होती थी कि थोड़ी सी देर हो जाने पर सैकडो व्यक्तियों को पडाल के भीतर खड़े रहने तक को जगह नहीं मिलती थी। इसलिये उन भाइयो को वापस लौट जाना पडता था। सतोष था तो

इतना ही कि पडाल व बाहर भी लाउड-स्पीकरों की व्यवस्था रहने के कारण बहुत से व्यक्तियों को बाहर खड़े रहकर भी व्याख्यान श्रवण का लाभ मिल जाता था। और सब से विशेषता की बात तो यह थी कि महिलाएँ भी बड़ी संख्या में रोज उपस्थित होती थीं। उनके लिये अलग बैठने का प्रबन्ध कर दिया गया था।

सारे सप्ताह में लोगों में बड़ा उत्साह देखा गया। बाहर से पधारे हुए विद्वानों का कलकत्ते की और भी जैन व जैनेतर, धार्मिक, साहित्यिक और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा सन्मान व स्वागत किया गया। अनेक भाइयों ने उनके साथ वार्ता-चर्चा करके भी लाभ उठाया। व्याख्यानमाला पर बाहर से पधारे हुए विद्वानों के संयोग से विचार-शक्ति के विकास का मौका तो मिला ही, परन्तु स्थानीय जैन समाज के लाभ की सब से बड़ी बात जो हुई वह तो यह थी कि इस आयोजन में जैन समाज की विभिन्न सम्प्रदायों जैसे दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी और विभिन्न फिर्कों जैसे गुजराती, मारवाडी, आदि सभी अंगो के लोग नित्य सैकड़ों की संख्या में उपस्थित होते थे। जो एक दिन आ जाता था, वह दूसरे दिन आये बिना नहीं रहता था। इस अनायास मिले हुए ऐक्य को व्याख्यानमाला के आयोजन की सब से बड़ी सफलता माननी चाहिये।

व्याख्यानमाला के क्रम की समाप्ति के दिन समाज के विभिन्न अर्गों की तरफ से व्याख्यानमाला के आयोजन के लिये 'तरुण जैन सघ' के प्रति जो प्रेमोद्गार प्रकट किये गये, तथा व्याख्यानमाला से मिले हुए लाभ की जो विवेचना की गई, उससे तो यह माना जायगा कि इस तरह के आयोजन समय और रुचि क अनुकूल तथा सर्वप्रिय होते हैं। यह भावना भी प्रकट की गई कि ऐसे आयोजनों का अन्य स्थानो मे भी प्रचार होना चाहिये। अब यहाँ प्रतिदिन की कार्यवाही की एक सक्षिप्त नोंध दी जाती है —

बृहस्पतिवार, ता० २६ अगस्त सन् १६४०

(समय—सायकाल ७॥ बजे)

आज के मनोनीत सभापति महामहोपाध्याय पडित विधुशेखरजी शास्त्री के ढाका से वापस न आ सकने क कारण श्री छोटेलालजी जैन की अध्यक्षता मे कार्यवाही प्रारम्भ हुई। वयोवृद्ध श्री पूरणचन्द जी सामसुखा ने मगलाचरण-पाठ किया, उसके बाद 'तरुण जैन सघ' के अध्यक्ष श्री सिद्धराजजी ढड्ढा ने 'तरुण जैन संघ' की स्थापना और व्याख्यानमाला क क्रम की योजना के सम्बन्ध में एक लिखित वक्तव्य पढ़ा। तत्पश्चात् 'तरुण जैन संघ' के मत्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने व्याख्यानमाला के कार्य क्रम आदि के सम्बन्ध में कतिपय आवश्यक सूचनाएँ देते हुए प्रारम्भिक वक्तव्य दिया। तब बनारस

हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन धर्म और साहित्य के प्रोफेसर पण्डित सुखलालजी का पर्युषणपर्व का महत्त्व और उसकी उपयोगिता पर तथा हिसार से पधारे हुए महात्मा भगवानदीनजी का नम्रता की कुँजी विषय पर व्याख्यान हुए जो इस पुस्तक में छपे हैं। दोनों व्याख्यानों के बाद सभापतिजी ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए कार्यवाही समाप्त की।

गुरुवार, ता० ३० अगस्त सन् १९४०

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

पण्डित सुखलालजी की अध्यक्षता में आज की कार्यवाही प्रारंभ हुई। प्रारंभ में श्री इन्द्रचन्द दूगड़ द्वारा मंगलाचरण-गान हुआ। उसके बाद सभापतिजी ने आज के मनोनीत वक्ता श्री गगनविहारी मेहता और श्री जैनेन्द्रकुमार का परिचय दिया। श्री गगनविहारी महता ने श्रोताओं के अनुरोध से 'देव और पुजारी' (Prophets & Priest) विषय पर अपना अंग्रेजी में लिखा हुआ भाषण न पढ़कर गुजराती में स्वतंत्र रूप से भाषण दिया। श्री जैनेन्द्र कुमार ने 'धर्म क्या है ?' पर बड़ा सुन्दर प्रवचन किया। ये दोनों ही भाषण इसी पुस्तक में अन्यत्र छपे हैं। भाषणों की समाप्ति पर सभापतिजी ने दोनों वक्ताओं के भाषणों का सार समझाते हुए एक अत्यन्त लाभप्रद भाषण दिया। श्री भँवरमलजी सिंघी के दूसरे दिन के कार्यक्रम आदि के बारे में आवश्यक सूचनाएँ देने के बाद सभा का कार्य समाप्त हुआ।

शनिवार, ता० ३१ अगस्त सन् १६४०
(समय—सुबह ६ बजे)

अपने नियमित व्याख्यान-वाचन के बाद आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी ने 'पयूषण पर्वाधिराज कर्तव्य' विषय पर व्याख्यान दिया।

(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज के मनोनीत सभापति बंगाल एसेम्बली के अध्यक्ष माननीय खान बहादुर अजीजुल हक अकस्मात रुग्ण हो जाने के कारण उपस्थित नहीं हो सके, अतः श्री पूरणचन्दजी सामसुखा की अध्यक्षता में कार्यवाही सम्पन्न हुई। श्री विजयचन्दजी डागा के मंगलाचरण गायन के बाद कलकत्ता यूनीवर्सिटी के प्राचीन इतिहास और संस्कृति के प्रख्यात प्रोफेसर डाक्टर कालीदास नाग एम० ए०, डी० लिट० का अंग्रेजी में 'विश्व-संस्कृति में जैन धर्म का स्थान' (The Place of Jainism in world culture) विषय पर व्याख्यान हुआ। श्री भँवरमलजी सिंघी ने उस भाषण का लिखित साराश हिन्दी में सुनाया।

बाद में श्री विजयसिंहजी नाहर ने कल्पसूत्र के आधार पर बने हुए महावीर स्वामी के जीवन सम्बन्धी स्लाइड्स का प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् सभापतिजी ने डाक्टर नाग को और उपस्थित लोगों को धन्यवाद दे कर सभा विसर्जित की।

रविवार, ता० १ सितम्बर सन् १६४१
(समय—दोपहर से २ बजे)

स्थानीय मारवाड़ी छात्र-निवास के हाल में एक सभा दिन में

दो बजे की गई थी, जिसका उद्देश्य यह था कि अगर बाहर से पधारे हुए विद्वानों में किसी को किसी तरह के प्रश्न पर चर्चा करनी हो तो उसको ऐसा करने का मौका मिल सके।

इस सभा में महात्मा भगवानदीनजी ने अध्यक्ष का पद ग्रहण किया। उपस्थित लोगों में से कुछेक ने प्रश्न किये, जिनके संबंधी काका साहब कालेलकर, पंडित सुखलालजी, दरबारीलालजी और जैनेन्द्रकुमारजी ने उत्तर दिये। 'सवमत्व' के प्रश्न पर विशेष चर्चा हुई। और भी कई प्रश्नों पर उत्तर दिये गये।

(समय—सायंकाल ६ बजे)

मनोनीत सभापति आचार्य जगदीशचन्द्र चटर्जी के आने में देर होने के कारण श्री बहादुरसिंहजी सिंघी की अध्यक्षता में कार्यवाही प्रारम्भ की गई। बाद में आचार्य जगदीशचन्द्रजी के आने पर, उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण किया।

सर्वप्रथम श्री रिखबचन्दजी डागा ने प्रारंभिक मंगलाचरण किया जिसके बाद पंडित सुखलालजी का 'जैन शास्त्रों में अहिंसा का व्यापक स्वरूप' और पंडित दरबारीलालजी का 'भगवान् महावीर की अहिंसा' विषयों पर व्याख्यान हुए। पंडित दरबारीलालजी का व्याख्यान इसी पुस्तक में अन्यत्र छपा है। दोनों वक्ताओं के भाषणों के बाद सभापति पद से आचार्य जगदीशचन्द्रजी का अहिंसा के विषय पर और साथ ही जैन धर्म के अन्य मुद्दों पर सारगर्भित व्याख्यान हुआ। अन्त में सभापति को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की गई।

मोमवार, ता० २-६-४०
(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

आज की कार्यवाही श्री काका कालेलकर के सभापतित्व में हुई। सर्वप्रथम श्री इन्द्रचंद दूगड़ के बगला में प्रारम्भिक गायन हुआ। बाद में श्री काका साहब ने श्रीयुत सतीशचन्द्र दासगुप्त का परिचय कराया। और उनसे भाषण देने की प्रार्थना की। तब श्री सतीश बाबू का 'अहिंसा का पुनरुद्धार' विषय पर और श्री जैनेन्द्रकुमार का 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श' पर और श्रीमती हीराकुमारी जी का 'नारी और धर्म' पर व्याख्यान हुए। उसके बाद सब लोगों को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की गई।

मंगलवार, ता० ३-६-४०
(समय—सायंकाल ७॥ बजे)

'माडर्न रिव्यू' के यशस्वी सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी ने आज सभापति का आसन ग्रहण किया। श्री इन्द्रचन्द दूगड़ के गायन के बाद श्री जैनेन्द्रकुमार ने श्री काका साहब का परिचय दिया। उसके बाद श्री काका साहब का 'अहिंसा और विश्वशिल्प' पर अत्यन्त विचारपूर्ण भाषण हुआ। दूसरा भाषण आज पंडित दरबारी लालजी का 'निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म' पर हुआ। दोनों ही व्याख्याता काफी प्रसिद्ध होने के कारण आज काफी भीड़ थी। श्री सभापतिजी ने एक सार-गर्भित भाषण दिया, जिसके बाद कार्य समाप्त हुआ।

व्याख्यान हुआ। दोनों भाषणों के बाद सभापति डॉ॰ बरुआ ने जैन साहित्य और संस्कृति पर बड़ा विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया।

तब 'तरुण जैन संघ' के मंत्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने व्याख्यान-माला के क्रम की समाप्ति पर अपना उपसंहारात्मक भाषण दिया जिस में उन्होंने व्याख्यानमाला की सफलता पर हर्ष प्रकट करते हुए अपने समस्त सहयोगियों, व्याख्याताओं और श्रोताओं को धन्यवाद दिया और यह आशा प्रकट की कि भविष्य में जनता के सहयोग से यह क्रम और भी अधिक सफल होगा। उन्होंने अपने व्याख्यान में समाज के युवकों से इस ज्ञान-सप्ताह के बाद चारित्र्य और कर्मशक्ति के विकास की ओर ध्यान देने का अनुरोध किया। उन्होंने अहिंसा के रचनात्मक कार्यक्रम के महत्व और उपयोगिता पर भी विचार प्रकट किये।

इसके बाद श्रोताओं में से सर्वश्री गणेशलालजी नाहटा, रायबहादुर सखीचंदजी जैन आदि सज्जनों ने व्याख्यानमाला की योजना के लिये 'तरुण जैन संघ' के प्रयत्न की प्रशंसा करते हुए व्याख्यानमाला की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट किये और समाज से अपील की कि इस तरह के क्रम ही आज के समय के अनुकूल हैं, और इन से धर्म की भावना और चिन्ता-शक्ति बढ़ती है, इसलिये उनको सफल बनाने में सभी को मुक्तहस्त होकर सहयोग देना चाहिये।

श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार ने बाहर से आए हुए वक्ताओं की ओर से 'तरुण जैन संघ' के मंत्री और दूसरे सज्जनों के द्वारा प्रकट किये हुए उद्गारों का उचित जवाब दिया।

फिर उसी समय श्री गणेशलालजी नाहटा के सभापतित्व में स्थानीय जैन सभा की ओर से बाहर से पधारे हुए विद्वानों का अभिनन्दन किया गया।

बृहस्पतिवार, ता० ५ ६-४०

प्रातः ७॥ बजे श्री विजयसिंहजी नाहर के 'कुमारसिंह हाल' में बाहर से आए हुए विद्वानों के साथ 'तरुण जैन संघ' के भावी कार्यक्रम के विषय में चर्चा करने के लिये कुछ नवयुवकों की एक परामर्श-सभा हुई। वहाँ सभी विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया कि अहिंसा की सच्ची साधना के लिये नवयुवकों को रचनात्मक कार्यों में ही अपनी ज्यादा शक्ति लगानी चाहिये। और 'तरुण जैन संघ' को इसी बात पर अधिक जोर देना चाहिये।



'पर्युषण-पर्व व्याख्यानमाला' सम्बन्धी

आय-व्यय का विवरण

आय	व्यय
६१८) चन्दे से प्राप्त हुए	१६६) बाहर से आने वाले वक्ताओं के आने-जाने का मार्ग-व्यय
	८०) लाउड स्पीकरों की व्यवस्था
	६०) बिजली—रोशनी और पंखे
	८५) छपाई और स्टेशनरी आदि
	४०।।) पबलिसीटी खर्च और वेतन आदि
	३०) पंडाल की विशेष व्यवस्था
	२१≈।। साइन क्लाथ वगैरह बनाने का खर्च
	१६।।)।। सवारी खर्च
	३७।≈ पोस्टेज-तार आदि का खर्च
	१६≡।। फुटकर खर्च
	६१२।।।)।।
	५≡।। बाकी जमा ('तरुण जैन संघ' के हिसाब में)
६१८)	६१८)

पर्युषण-पर्व व्याख्यानमाला, कलकत्ता

(प्रथम वर्ष, सन् १९४०)

वक्ताओं का परिचय



पंडित सुखलालजी—आप जैन दर्शन और साहित्य के धुरंधर विद्वान तथा विचारक हैं। आजकल आप बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय में जैन दर्शन के आचार्य हैं। आप ने अनेक जैन ग्रन्थों का सम्पादन कर अपनी अगाध विद्वत्ता का परिचय दिया है। आप की स्वतंत्र पुस्तकों और लेखों में पांडित्य के साथ साथ उदार और व्यापक विचार दृष्टि की एक असाधारण विशेषता होती है। व्याख्यानमाला के क्रम को शुरू करने का श्रेय आप ही को है। आप बाल्यावस्था में ही अंधे हो

गये थे, लेकिन नेत्रों का अभाव होते हुए भी आप का अध्ययन अत्यन्त विशाल, विचार अत्यन्त गम्भीर और विवेक अत्यन्त जागृत, तथा वाक्-पटुता अत्यन्त विकसित है। जैन समाज मे आपकी जोड का और कोई विद्वान् नही है।

श्री काका कालेलकर—आप भारतवर्ष के इनेगिने विचारकों में से हैं। एक प्रकांड लेखक और विचारक तो आप है ही, परन्तु एक सफल राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी है। महात्मा गांधी के विचारों से प्रभावित हुए विद्वानों मे श्री काका साहब का ऊँचा स्थान है। हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं मे आप हजारों पृष्ठ लिख चुके है। गांधीवादी विचारो के प्रमुख मासिक पत्र 'सर्वोदय' के आप ही सम्पादक हैं। आजकल आप अपना सब से अधिक समय राष्ट्रभाषा-प्रचार क कार्य मे लगाते है। आप वर्धा में रहते हैं।

पडित दरबारीलालजी—जैन शास्त्रो म कुशल पडित होन के साथ साथ आप एक उच्च श्रेणी क विचारक, लेखक और वक्ता भी है। 'जैन-जगत्' में आपने 'जैन धर्म का मर्म' शीर्षक जो लेखमाला निकाली थी, उससे तथा अन्य लेखों एव भाषणों से आप जैन समाज मे काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। आप की विचार-सरणी और विवेचन-शैली बडी प्रभाव-पूर्ण है। आजकल आप सत्यधर्म-समन्वय की प्रवृत्ति चलाते हैं। आप भी वधा मे रहत हैं।

डा० कालीदास नाग एम० ए०, डी० लिट०—आप प्राचीन कालीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के ख्यप्रतिष्ठ विद्वान और कलकत्ता यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं। एक प्रसिद्ध वक्ता होने के कारण विभिन्न धार्मिक, साहित्यिक और संस्कृतिक संस्थाओं से आप का सम्बन्ध है।

श्री सतीशचद्र दासगुप्त—बंगाल में खादी और ग्रामोद्योग सम्बन्धी रचनात्मक कार्यों की प्रसिद्ध संस्था 'खादी प्रतिष्ठान' के संस्थापक श्री सतीश बाबू एक सच्चे कर्मिष्ठ राष्ट्र सेवक हैं। आप बंगाल कमीकल और फार्मस्युटिकल कम्पनी के प्रमुख उन्नायकों में से एक थे। और उस कम्पनी से आप को हजारों रुपयों का आय होती थी, पर गांधीजी के प्रभाव से आप उसे छोड़ कर आजकल ग्रामोद्योग की प्रवृत्तियाँ चलाते हैं। आप गांधीजी के अहिंसात्मक विचारों के दृढ़ अनुयायी हैं। महात्माजी के सादे जीवन और गम्भीर विचारधारा का आप पर बड़ा असर पड़ा है।

श्री गगनविहारी मेहता—सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लि० के कलकत्ता आफिस के मैनेजर और फैडरेशन आफ इण्डियन चेम्बरस आफ कामर्स के वर्तमान उप सभापति श्री गगनविहारी मेहता व्यापारिक क्षेत्र में तो प्रसिद्ध हैं ही, किन्तु आप एक विद्वान्, विचारक, लेखक और वक्ता भी हैं। अँग्रेजी के आप बड़े विद्वान् हैं, और उस भाषा में आपने कई

लेख वगैरह लिखे हैं, जिनकी काफी प्रशसा हुई है। इस पुस्तक मे छपे हुए भाषण से ही उनके विचारो की गभीरता का पता चलता है।

महात्मा भगवानदीनजी—आप जैन समाज के वयोवृद्ध कार्यकर्ता है। आप साधु-वृत्ति और निस्वार्थ सेवा भाव वाले गम्भीर विचारक हैं। आप आजकल हिसार (पञ्जाब) मे रहते हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार—आपने छोटी उम्र मे ही अपनी कलापूर्ण रचनाओ के द्वारा हिन्दी ससार म उपन्यासकार और कहानी-लेखक क तौर तो अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त किया ही है, पर आप एक मधुर वक्ता भी हैं। हिन्दी-ससार मे श्री जैनेन्द्र की विचारधारा का अपना स्थान है। हिन्दी क लेखकों में उनका बहुत आदर और सम्मान है। आप दिल्ली में रहते हैं।

पडित हजारीप्रसादजी द्विवेदी—आप कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर क विश्व-विख्यात 'शान्ति निकेतन' म हिन्दी-विद्यापीठ के आचार्य है। हिन्दी साहित्य मे आप का बडा गहरा अध्ययन है जिसका परिचय, आपने हाल ही मे प्रकाशित अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रन्थ मे दिया है। इस सिलसिले मे आपने जैन-साहित्य का भी अच्छा अध्ययन

किया है। आप की कई पुस्तक और लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका हिन्दी-ससार मे आदर हुआ है।

श्रीमती हीराकुमारी देवी—आप जियागज निवासी श्री बुधसिहजी बोथरा की सुपुत्री हैं। लघु अवस्था मे विधवा हो जाने पर आपने अध्ययन और वाचन में ही अपना समय लगाया है। आपने सस्कृत में तीर्थादि परीक्षाएँ पास की हैं तथा आजकल बनारस में पडित सुखलालजी क पास रह कर जैन दर्शन का अध्ययन करती हैं। कलकत्ता क महिला समाज को आप से बहुत आशा है।

चित्रकार का परिचय



इस पुस्तक मे कतिपय वक्ताओं के जो रेखा-चित्र छपे हैं, वे हमारे तरुण कलाकार श्री इन्द्रचन्द दूगड के बनाये हुए हैं। इनके विषय मे विशेषता की बात यह है कि ये रेखाकृतियाँ चित्रकार ने व्याख्यानों के समय ही वक्ताओं के पास बैठ कर बनायी थीं। इन सफल कृतियों के लिये कलाकार को बधाइयाँ मिली हैं। हमे आशा है इनके छपने से व्याख्यानमाला की पुस्तक भी अधिक आकर्षक बनेगी।

श्री दूगड जियागज (मुर्शिदाबाद) निवासी श्री हीराचदजी दूगड के सुपुत्र हैं। चित्रकला की कोई व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त नहीं होते हुए भी श्री दूगड ने अपने शौक से इस कला में जितनी योग्यता और कुशलता हासिल करली है, वह वास्तव मे अभिनन्दन की बात है। उनके कई चित्रों पर पारितोषिक मिल चुके हैं। गत रामगढ काँग्रेस के अवसर पर बिहार के ऐतिहासिक चित्रों के निर्माण-कार्य के लिये भारत के विभिन्न प्रान्तों से बुलाये हुए पाँच चित्रकारो मे श्री इन्द्रचन्द भी थे। श्री राजेन्द्रप्रसादजी ने इस कलाकार की प्रशसा करते हुए कहा है कि "यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि इस युवक ने चित्रकला की व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त कर कोई डिप्लोमा नहीं लिया है, पर चित्रकारी मे उन्होंने उच्च योग्यता हासिल की है।"

हमे इस तरुण कलाकार से बडी बडी आशाएँ हैं।



व्याख्यान

पर्युषण पर्व का महत्व और उसकी उपयोगिता

[वक्ता—पंडित सुखलालजी, हिन्दू युनीवर्सिटी, बनारस]



त्योहारों की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि किसी खास कारण से त्योहार का प्रारम्भ हुआ होता है और बाद में उसकी पुष्टि और प्रचार के समय अन्य कारण भी उसके साथ जुड़ जाते हैं। विभिन्न त्योहारों के भिन्न भिन्न कारण भले ही हों परन्तु उन सभी में दो कारण तो सामान्य हैं—एक भक्ति और दूसरा आनन्द। किसी भी त्योहार के पीछे अथवा साथ में अन्धभक्ति या सज्ञान भक्ति होती ही है। बिना भक्ति के त्योहार का

अस्तित्व रह नहीं सकता, क्योंकि उसके अस्तित्व और प्रचार का आधार जन समुदाय होता है। इसलिए जब तक उस त्योहार के ऊपर उस जन समुदाय की भक्ति होती है, तभी तक वह चल सकता है। इसी तरह आनन्द के बिना तो लोग किसी भी त्योहार में रस ले ही नहीं सकते। खाना पीना, हिलना-मिलना, गाना बजाना, पहनना ओढ़ना और ठाट बाट इत्यादि का थोड़ा बहुत प्रबन्ध न हो, ऐसा कोई भी सात्त्विक किंवा तामसिक त्योहार दुनिया में कहीं भी नहीं मिल सकता।

त्योहारों के स्वरूप और उनके पीछे रही हुई भावना को देखते हुए उत्पत्ति के कारणों को लेकर त्योहारों के मुख्य दो भेद हो सकते हैं—लौकिक और लोकोत्तर, अथवा मानुषी और दैवी। जो त्योहार भय, लालच या विस्मय जैसे क्षुद्र भावों में से उत्पन्न हुए होते हैं, वे साधारण भूमिका के लोगों के योग्य होने से उन्हें लौकिक या मानुषी कह सकते हैं। उनमें जीवन शुद्धि या जीवन की महत्ता का भाव नहीं होता किन्तु तुच्छ वृत्ति और क्षुद्र भावना ही उनके पीछे होती है। जो त्योहार जीवन शुद्धि की भावना में से उत्पन्न हुए होते हैं और जीवन शुद्धि के लिए ही प्रचलित हुए हैं, वे उस भूमिका के लोगों के लायक होने से लोकोत्तर या दैवी कहे जा सकते हैं।

पहाड़ों और जंगलों में बसने वाली भील, संथाल आदि

जातियों म अथवा तो शहर और गांवों म बसने वाली छारा, वाघरी जेसी जातियों मे, और कई बार तो उच्च वर्ण की माने जाने वाली सभी जातियों मे जाकर के उनके त्योहार देखे तो तुरन्त ही मालूम होगा कि उनके त्योहार भय, लालच और आश्चर्य की भावना म से उत्पन्न हुए हैं। ये त्योहार अर्थ और काम, इन दो ही पुरुषार्थों की पुष्टि के लिए प्रचलित होते हैं। नागपचमी, शीतला सप्तमी, गणेश चतुर्था, दुर्गा और काली पूजा, व भैरव और जगदम्बा की पूजा की तरह भय-मुक्ति की भावना में से उत्पन्न हुए हैं। मोलाकत, मगलगौरी, ज्येष्ठागौरी और लक्ष्मी-पूजा इत्यादि त्योहार लालच और काम की भावना म से उत्पन्न हुए हैं और इसी के आधार पर चल रहे हैं। सूर्य पूजा, समुद्र पूजा और चन्द्र-पूजा इत्यादि के साथ सम्बद्ध त्योहार विस्मय की भावना म स पैदा हुए हैं। सूर्य के प्रचण्ड तप और अपार समुद्र की अनन्त उछलती हुई तरंगों को देख कर मनुष्य पहले-पहल तो दिङ्मूढ ही बन गया होगा और इसी मूढता—विस्मय मे स उनकी पूजा के उत्सव शुरू हुए होंगे।

ऐसे अर्थ तथा काम के पोषक त्योहार सर्वत्र प्रचलित होने पर भी पवक दृष्टिवाले मनुष्यों के द्वारा प्रचलित दूसरी तरह के भी त्योहार हम देख सकते हैं। यहूदी, क्रिश्चियन और जरथोस्ती धर्म मे जीवन-शुद्धि की भावना में स फलित कितने

ही त्योहार चल रहे हैं। इस्लाम मे खास कर के रमज़ान का पूरा महीना जीवन शुद्धि की दृष्टि से ही पर्व के रूप मे चलाया गया है। इसमें मुसलमान केवल उपवास करके ही सन्तोष मान ले इतना ही बस नहीं समझा जाता परन्तु इसके अतिरिक्त संयम को जीवन में उतारने के लिये अन्य कितने ही पवित्र फरमान किये गए हैं। ब्रह्मचर्य पालना, सच बोलना, ऊँच-नीच या छोटे बड़े का भेदभाव छोड़ना, आय का २५ सेवा करने वाले छोटे छोटे कर्मचारियों के लिये और १०% संस्थाओं तथा फकीरों की रक्षा में खर्च करना, इत्यादि जो विधान इस्लाम में हैं, वे रमजान महीने की पवित्रता सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं। ब्राह्मण धर्म के त्योहार उनकी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अनेक तरह के हैं अर्थात् उनमें सभी भावनाओं वाले सभी प्रकार के त्योहार मिश्रित मालूम पड़ते हैं। बौद्ध त्योहार लोक कल्याण और त्याग की भावना में से यद्यपि पैदा हुए हैं फिर भी जैन त्योहारों में इन सब से एक खास विभिन्नता है और वह विभिन्नता यह है कि जैनों का एक भी छोटा या बड़ा त्योहार ऐसा नहीं है जो अर्थ या काम की भावना में से अथवा तो भय, लालच और विस्मय की भावना में से उत्पन्न हुआ हो या उसमें पीछे से मिली हुई ऐसी भावना का शास्त्र से समर्थन करने में आता हो। तीर्थंकरों के किसी कल्याणक का निमित्त हो या दूसरा कुछ हो, परन्तु उस निमित्त

से चलनेवाले पर्व या त्योहार का उद्देश मात्र ज्ञान और चरित्र की शुद्धि तथा पुष्टि करने का ही रखा गया है। एक दिन के या एक से अधिक दिन के लम्बे, इन दोनों प्रकार के त्योहारों के पीछे जैन परम्परा में मात्र यही एक उद्देश रखा गया है।

लम्बे त्योहारों में खास छह अट्ठाइयाँ आती हैं। उनमें भी पर्युषण की अट्ठाई सब में श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका मुख्य कारण उसमें आने वाला सांवत्सरिक पर्व है। सांवत्सरिक पर्व जैनों का सब में अधिक आदरणीय पर्व है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म की मूल भावना ही इस पर्व में ओत-प्रोत हो गई है। जैन अर्थात् जीवन-शुद्धि का उम्मेदवार सांवत्सरिक पर्व के दिन जीवन में एकत्र हुए मैल को बाहर निकालने का और पुनः वैसे मैल से बचने का निश्चय करता है। इस पर्व के दिन सभी छोटे बड़े के साथ तादात्म्य साधने का और जिस जिससे दिल खट्टा हो गया हो उस उससे दिल साफ़ करने का आदेश है। जीवन में से मैल दूर करने की घड़ी ही उसकी सर्वोत्तम धन्य घड़ी है और ऐसी घड़ी प्राप्त करने के लिए जिस दिन का आयोजन हुआ हो, वह दिन सब से अधिक श्रद्धेय माना जाय तो इसमें आश्चर्य नहीं। सांवत्सरिक पर्व को केन्द्रीभूत मान कर उसके साथ दूसरे सात दिन मिलाए गए हैं और ये आठों दिन आजकल पर्युषण के नाम से पुकारे जाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के तीनों

फिरकों में यह सप्ताह पर्युषण के नाम से ही विख्यात है और सामान्यत तीनों में यह सप्ताह एक ही साथ शुरू होता है और पूरा भी होता है, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में यह पर्व आठ के बदले दस दिन का माना जाता है और पयुषण के बदले उसे दश लक्षणी कहा जाता है। उनका समय भी श्वेताम्बर परपरा से भिन्न है। श्वेताम्बरों के पर्युषण समाप्त होते ही दूसरे दिन से दिगम्बरों की दस लक्षणी शुरू होती है।

जैन धर्म के मूल मे त्याग और तप की भावना मुख्य होने से इसमे त्यागी साधुओं का पद मुख्य है और इसी से जैन धर्म के तमाम पर्वों में साधु पद का सम्बन्ध प्रधान होता है। सांवत्सरिक पर्व अर्थात त्यागी साधुओं के वर्षावास निश्चित करने का दिन और अन्तर्मुख होकर जीवन में से मैल दूर करने का और उसकी पवित्रता बनाए रखने के निश्चय का दिन। इस प्रकार जीवन शोधन की दृष्टि से इस दिन का बड़ा महत्त्व है, और उसके साथ सम्बद्ध इतर दिनों का भी उतना ही महत्त्व है। इन आठ दिनों में जैसे शक्य हो वैसे धधा रोजगार कम करने का, त्याग तप अधिक करने का, ज्ञान उदारता आदि सद्गुणों की वृद्धि का तथा जिनसे ऐहिक या पारलौकिक कल्याण हो ऐसे काम करने का लोग प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक जैन को विरासत में ही पर्युषण के ऐसे सस्कार मिलते हैं कि उन दिनों प्रपच से निवृत्त होकर यथाशक्य अधिक अच्छा काम करना।

इन्हीं सस्कारों क वल पर छोटा या बडा, भाई या बहन प्रत्येक पर्युषण आते ही अपनी अपनी त्याग, तप आदि की शक्ति आजमाने लगता है और चारों तरफ जहां देखो वहां जैन परम्परा मे एक धार्मिक वातावरण श्रावण क बादलों की तरह घिर कर छा जाता है। ऐसे वातावरण क कारण हमे इस पर्व क दिनों मे ये बात दिखाइ देती है—(१) प्रवृत्ति कम कर के, हो सके उतनी निवृत्ति और अवकाश प्राप्त करने का प्रयत्न, (२) खानपान और दूसरे कितने ही भोगों पर थोडा-बहुत अकुश, (३) शास्त्र श्रवण और आत्मचिन्तन की ओर झुकाव, (४) तपस्वी और त्यागियों तथा साधर्मिकों की योग्य प्रतिपत्ति—भक्ति (५) जीवों को अभयदान देने का प्रयत्न, (६) वैर विरोध भूल कर सब के साथ सच्ची मैत्री करने और रखने की भावना।

एक तरफ परम्परा प्राप्त ऊपर क छह प्रकार के सस्कार और दूसरी तरफ सांसारिक झंझटों क कारण पडी हुई बुरी आदत—इन दोनों क बीच सघर्ष होता है। इसलिए पर्युषण के कल्याण-साधक दिनों मे भी हम यथेच्छ और यथाशक्य उपर्युक्त सस्कारों का उपयोग नहीं कर पाते और धार्मिक विषयों के साथ अपने हमेशा क सकुचित तथा वैमनस्य उत्पन्न करनेवाले कुसस्कारों को मिला कर प्रत्येक विषय में कलह, पक्ष विपक्ष, तू-तू , मैं मैं और विरोधी प्रसग खडे करते हैं। इस तरह पर्युषण क बाद जीवन को कुछ उन्नत बनाने के बदले जहां

थ, यहाँ आकर गड़ग्गत है और यहुत नाग तो न्स स्थिति म भी नान गिर जात है। इसलिए आजकल पयुषण जैसे धार्मिक दिवसों का उपयोग अपने आध्यात्मिक जीवन क विकास म तो होता ही नहीं है परन्तु सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन म भी हम उनका कुछ भी उपयोग नहीं कर पाते। हमारी सब साधारण की भूमिका व्यावहारिक है। हम गृहस्थ होने म अपना सम्पूर्ण जीवन ही बहिर्मुख व्यतीत करते हैं इसलिए आध्यात्मिक जीवन को तो छूने म भी असमर्थ हैं। परन्तु जिस प्रकार का जीवन विकास हम चाहते हैं और प्रयत्न करने पर जिसे प्राप्त कर सकते हैं, उस प्रकार क अर्थात् सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को हमने तुच्छ और व्यर्थ सा मान रखा है और इस तरह किसी तरह की योग्यता क बिना ही मुह मे जीभ है, इसलिए यहा करते हैं कि जीवन तो आध्यात्मिक ही सचा है। ऐसी योग्यता विहीन समझ से न तो आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है और न सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन ही सुधरता है। इसलिये हम अपनी सुन्दर धार्मिक विरासत का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये जिस से अपने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का सुधार हो और यदि आन्तरिक योग्यता हो तो आध्यात्मिक जीवन क ऊपर भी उसका अच्छा असर पड़े। पयुषण पर्व का इस प्रकार म उपयोग करने क लिये दो वस्तुओं की विशेष आवश्यकता है —

(१) एक तो यह कि जैन धर्म ने अपनी विशिष्ट परम्परा के रूप में कौन कौन से तत्त्व हमें दिए हैं और उनका सामाजिक तथा राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से किस प्रकार उपयोग हो सकता है, यह समझना और (२) दूसरा यह कि पर्युषण की निवृत्ति का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये जिससे अपने को, अपने पड़ोसी भाइयों को तथा अपने देश-बन्धुओं को लाभ हो और अपने सामाजिक जीवन की जनता में तथा राज्य में प्रतिष्ठा हो। अपन हंसते चेहरे सब के आगे खड़े रह सकें और अपने धर्म की श्रेष्ठता के लिए सन्‌भिमान ले सके। इसी कारण से हमने पर्युषण का उपयोग करने की पद्धति बदली है।

अपने में मुख्य दो वर्ग हैं। एक ऐसा है कि उसे नया क्या है, पुराना क्या है, मूल तत्त्व क्या है, इन की कुछ भी खबर नहीं है, उसको तो जो रूढ़ियां जीवन में मिली हैं, वे ही उसका सर्वस्व है। अपनी रूढ़िगत परम्परा के बाहर नजर डालने में और अपने संस्कारों के अतिरिक्त दूसरे के संस्कारों की ओर देखने में भी उसे कोई अपराध हो रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। उसका जो अपना है, उसके अतिरिक्त कोई भी संस्कार कोई भी भाषा और कोई भी विचार असह्य मालूम होता है। दूसरा वर्ग ऐसा है कि उसके सामने जो कुछ आवे, वही उसे अच्छा लगता है। अपना कुछ भी नवीन सर्जन नहीं होता,

अपना कोई स्वतंत्र विचार नहीं होता, उसका अपना कोई निश्चित ध्येय भी नहीं होता। फलतः जिस तरफ लोग झुकते हैं, उसी तरफ वह वर्ग भी झुक जाता है। इससे परिणाम यही होता है कि समाज में इन दोनों वर्गों से अपने धर्म के विशिष्ट तत्त्वों का व्यापक और अच्छा उपयोग नहीं होता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि लोगों में ज्ञान और उदारता का विकास हो, ऐसी शिक्षा दी जाय। इसीलिये परम्परा से होने वाले कल्पसूत्र के वाचन को न रख कर के हमने कुछ विशिष्ट विषयों पर चर्चा करना उचित समझा है। ये विषय जैन धर्म में अथवा सर्व धर्म में प्राणरूप हैं। इन की चर्चा हमने इस दृष्टि से करने का विचार किया है कि जिससे इन तत्त्वों का उपयोग सब क्षेत्रों में सब अधिकारी कर सकें, और आध्यात्मिकता कायम रख कर के भी सामाजिक और राष्ट्रीय कल्याण मार्ग का अवलम्बन ले सकें।

इस अभिनव परम्परा से डरने का कोई कारण नहीं है। इस समय प्रचलित परम्पराएँ भी कोई शाश्वत तो हैं ही नहीं। जिस ढंग से और जिस प्रकार का कल्पसूत्र आजकल पढ़ा जाता है वह भी अमुक समय में और अमुक संयोगों में ही शुरू हुआ था। लगभग १५०० वर्ष पहले तो ऐसा लोक सभा में और सब के सामने कल्पसूत्र का पाठ ही नहीं होता था। वह तो केवल साधु सभा में और वह भी अमुक कोटि के

साधु ही पढ सकते थे। पहले तो वह रात मे ही पढा जाता था और दिन मे पाठ होने पर विशिष्ट सयोगों मे ही साधु-साध्वी भाग ले सकते थे। आनन्दपुर नगर मे ध्रुवसेन राजा के समय मे चतुर्विध सघ के सामने कल्पसूत्र पढने की परिस्थिति उपस्थित हुई। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने का प्रासगिक कारण तो उस राजा के पुत्र-शोक के निवारण का था, परन्तु वास्तविक कारण तो यह था कि उस समय सर्वत्र चौमासे मे ब्राह्मण सम्प्रदाय मे महाभारत, रामायण और भागवत जैसे शास्त्रों के वाचन श्रवण की खूब प्रथा थी। जनता उस तरफ खूब झुकती थी। बौद्ध सम्प्रदाय मे भी जिन-चरित और विनय के ग्रन्थ पढे जाते थे जिनमे भगवान् बुद्ध के जीवन और भिक्षुओं के आचार का वर्णन आता था। इससे जनता मे महान पुरुषों के जीवन चरित्र सुनने की और त्यागियों के आचार जानने की उत्कट रुचि उत्पन्न हुई थी। इस रुचि को तृप्त करने के लिये बुद्धिशाली जैन आचार्यों ने ध्रुवसेन जैसे राजा की घटना के बहाने कल्पसूत्र को जन-सभा मे वाचन करना पसन्द किया। उसमे जो पहला जीवन-चरित्र नहीं था वह बढाया और केवल सामाचारी का भाग, जो साधुओं के समक्ष ही पढा जाता था, गौण करके प्रारम्भ मे भगवान महावीर का चरित्र जोड दिया। और सर्व-साधारण को उस समय की रुचि के अनुसार अच्छा लगे वैसे

ढंग से और वैसी भाषा में उसका सम्पादन किया। जब लोगों में अधिक विस्तार पूर्वक सुनने की रुचि पैदा हुई, कल्पसूत्र की लोगों में खूब प्रतिष्ठा होने लगी और पर्युषण में उसका सार्वजनिक वाचन नियमित हो गया तब समय के प्रवाह के साथ संयोगों के अनुसार आचार्यों ने टीकाएँ लिखीं। वे प्राकृत और संस्कृत टीकाएँ भी पढ़ी जाने लगीं। १७ वीं शताब्दी तक की लिखी हुई और तत्कालीन विचारों से प्रतिध्वनित टीकाएँ भी एक अति प्राचीन ग्रन्थ के रूप में पढ़ी और सुनी जाने लगीं। अन्त में गुजराती और हिन्दी में भी सब का अनुवाद हुआ और आज जहाँ तहाँ वे भी पढ़ी जाती हैं। यह सब अच्छा है और यह इसीलिए कि लोगों की भावना के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। कल्पसूत्र अक्षरशः भगवान महावीर के समय से ही चला आ रहा है और उनके समय में जिस तरह पढ़ा जाता था उसी तरह आज भी पढ़ा जाता है, ऐसा मानने की कोई भूल न करे। लोक श्रद्धा, लोक-रुचि और उपयोगिता की दृष्टि से जो परिवर्तन होता है, वह यदि बुद्धिपूर्वक किया जाय तो लाभदायक ही होता है।

कल्पसूत्र में और उसके वाचन की जो पद्धति आजकल प्रचलित है उसमें सभी लोग रस ले सकें, ऐसा नहीं है। उसके कारण इस प्रकार हैं—(१) वाचन और श्रवण में इतना अधिक

समय देना पडता है कि मनुष्य थक जाय और श्रद्धा के कारण यदि बैठा रहे तो भी विचार करने के लिए तो अशक्त ही हो जाय। (२) निश्चित पद्धति के अनुसार शब्दों का उच्चारण और अर्थों का स्पष्टीकरण होने से तथा निश्चित समय में निश्चित भाग पूरा करना पडता है, इस कारण सभी वक्ता और श्रोता के लिए दूसरी चर्चा या दूसरी दृष्टि के अवकाश का अभाव। (३) उस वाचन के समय समाज की तथा देश की वर्तमान दशा की ओर उदार दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति का अभाव और इससे समाज तथा राष्ट्र में उपयोगी हो सके, ऐसी कल्पसूत्र में से बात खोज लेने की कमी। (४) श्रद्धा, भक्ति और प्रचलित रूढियों के ऊपर इतना अधिक भार दिया जाता है कि जिसमें बुद्धि, तर्क और स्वतन्त्र जिज्ञासा सर्वथा नष्ट हो जाय। (५) वर्तमान परिस्थिति के बारे में एकदम अज्ञान अथवा भ्रम और आँखो के सामने बिलकुल प्रत्यक्ष और स्पष्ट घटनेवाली घटनाओ को झूठा मान कर आँखे बन्द कर लेने की वृत्ति (जो कि रूढिवादियो में अनिवार्य है) और भूत काल की एकमात्र मृत घटना को सजीव करने का एक तरफा प्रयत्न।

इन और इन जैसे इतर अनेक कारणों की वजह से अपना पर्युषण का कल्पसूत्र वाचन नीरस जैसा हो गया है। इसका उद्धार करने की आवश्यकता है। यह बहुत अच्छी तरह से हो सके, ऐसे तत्त्व हमारे सामने हैं, यही ध्यान में रख कर इस समय हमने हमारी दृष्टि के अनुसार परिवर्तन जाहिरा तौर से शुरू किया है।

सफलता की कुञ्जी

[वक्ता-महात्मा भगवानदीनजी, हिसार]

सफलता की कुञ्जी जैसे विषय पर बोलने के लिए मेरे आपके सामने आते ही आपके मन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि मैं किसी काम में सफल हो चुका हूँ या नहीं, यानी क्या मैं कोई धनाढ्य हूँ ? या मैं किसी उच्च सरकारी पद पर प्रतिष्ठित हूँ ? क्या मैं सफल पहलवान हूँ या और कोई ऐसी बात मुझ में है ? इसके उत्तर में मैं यही कहूँगा कि न मैं कोई धनाढ्य हूँ, न पहलवान और न किसी सरकारी उच्च पद पर प्रतिष्ठित। मैं इन चीजों को सफलता का ध्येय ही नहीं मानता।



महात्मा भगवानदीनजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड़

मैं जिस सफलता पर बोलूँगा, वह होगी मनुष्य के भीतर छिपी हुई एक शक्ति। उसी का विकास, उसी की प्राप्ति, उसी की खोज मेरे आज के व्याख्यान का विषय होगा। हां, इसमें संदेह नहीं कि उस शक्ति को पाकर मनुष्य धनाढ्य भी बन सकता है, पहलवान भी और ऊंच से ऊंच पद को भी पा सकता है। ये चीज़ सफलता नहीं किन्तु सफलता के बाह्य रूप हैं। सफलता तो केवल मनुष्य के अन्दर निवास करने वाली एक महान शक्ति है जिसका ज्ञान होने पर मनुष्य वही हो सकता है जो वह चाहे। एक धनाढ्य मनुष्य निर्धन होने पर असफल नहीं माना जा सकता, यदि उसे सफलता-शक्ति का ज्ञान हो चुका है, ठीक इसी प्रकार पहलवान दुर्बल होने पर असफल नहीं समझा जा सकता। शक्ति का एक बार ज्ञान होने पर भुलाया नहीं जा सकता, वह आजीवन उसके साथ रहेगा, उसके काम आता रहेगा और उसे प्रसन्न बनाए रखेगा।

सफलता की कुञ्जी में सफलता और कुञ्जी का वह सम्बन्ध नहीं है जो ताले की कुञ्जी में ताले और कुञ्जी का, और वह सम्बन्ध भी नहीं है जो मकान की कुञ्जी में मकान और कुञ्जी का परन्तु इसमें नया ही सम्बन्ध है यानी सफलता किसी कोठरी में बन्द है और उसमें ताला लगा हुआ है, उस ताले की कुञ्जी की हमें दरकार है। अब हमें यह देखना होगा कि वह ताला क्या है, कोठरी कैसी है और सफलता कहां छिपी हुई

है? सफलता केवल ताला खोलने से न मिलेगी, दरवाजा खोलकर भी न मिलेगी, वह हमें प्राप्त होगी कोठरी तोड़ कर। अब मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपको यह बतलाऊं कि वह सफलता किस कोठरी में बन्द है। वह मनुष्य के अन्दर ही बन्द है। उस कोठरी की दीवारें मोह या माया की बनी हुई हैं। वे दीवारें रचना की ईंटों से कपट के गारे के साथ जोड़ी गई हैं, उन दीवारों पर आभास और भ्रम का प्लास्टर लगा हुआ है। उस कोठरी का दरवाजा अहंकार के किवाड़ों से बन्द है, जिसमें मद के पुश्तीवान लगे हुए हैं, मान की कीलें ठुकी हुई हैं, घमंड का पत्तर जड़ा है जिस पर गर्व का रोगन हो रहा है। इसी दरवाजे में गुस्से का ताला लगा है जिसमें क्रोध का कुंडा है और जिसके भीतर है कोप, रोष और आवेश। इतना ही नहीं पर इस कोठरी के अन्दर लोभ का बड़ा घना अन्धेरा है, जिस अन्धेरे की तृष्णा, स्पृहा, लिप्सा और लालसा तहें हैं, उस अन्धेरे में सफलता कहीं छिपी हुई है। उसी को मनुष्य को ढूंढना है। इसलिए सिर्फ ताला खोल कर दरवाजा खोलने से काम न चलेगा किन्तु सफलता पाने के लिए हमको उस कोठरी की दीवारें तोड़ कर अंधेरे को दूर करना होगा। तभी हम सफलता को देख सकेंगे और पा सकेंगे। पा नहीं सकेंगे किन्तु सफलता स्वयं हम से ऐसे आ चिपटेगी मानो वह मुद्दत से हमारी बाट जोह रही हो।

सफलता और हमारे एक हो जाने पर एक जबरदस्त प्रकाश उत्पन्न होगा जिसकी रोशनी में कोठरी की दीवार, किवाड़, ताला मन रहते हुए भी शीशे के समान पारदर्शी होकर रोक-टोक का काम न कर सकेंगे। बस, ऐसी सफलता कब किसे और क्यों मिलती है, यही मेरे आज के व्याख्यान का विषय है। इन प्रश्नों का उत्तर देकर मेरा वक्तव्य समाप्त हो जायगा।

ऊपर लिखे हुए कोठरी के वर्णन को थोड़े से शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गुस्सा, घमंड, मोह, और लालच यही सफलता के मार्ग में मन से बड़े बाधक हैं। इनको वश करना ही सफलता की ओर कदम बढ़ाना है, इनके वश होकर मनुष्य अपने आपको यह समझता ही नहीं कि वह दिखाई देने वाले देह के अतिरिक्त कुछ और भी है और इसलिए इनमें से किसी एक के वश होकर वह सफलता की प्राप्ति की बात सोचे बिना अपघात के द्वारा इस देह का अन्त कर डालता है और इस तरह सफलता से और भी दूर जा पड़ता है। संसार के किसी भी क्षेत्र में कोई भी सफल मनुष्य ऐसा नहीं खोजा जा सकता जिसने इन चारों को अपने वश में न कर लिया हो। यह कहावत ठीक ही है कि अपने को वश करना जगत को वश करना है।

सफलता की ओर कदम बढ़ाने की बात या तो उन लोगों को सूझती है जिनमें जन्म से ही गुस्सा, घमंड, मोह, लोभ, कम

होते हैं या उनको जो कभी किसी महापुरुष या अच्छी पुस्तक के सम्पर्क में आगए हों। इन दो प्रकार के मनुष्यों में थोडा सा अन्तर होता है। पहली प्रकार के मनुष्य सदा सफलता के मार्ग पर आगे ही बढते जाते हैं किन्तु दूसरी प्रकार के मनुष्य दौडते तो बहुत तेजी से हैं पर कभी बुरी तरह ठोकर खाकर गिर जाते हैं। फिर या तो वे कभी नहीं उठते या बहुत दिनों बाद फिर उठकर जोर लगाते हैं और इस तरह कई बार गिर-उठ कर उस तक पहुंच जाते हैं। सफलता को पा कर मनुष्य फिर नहीं गिरते।

इस गिरने उठने की वजह से मनुष्यों की अनेकों श्रेणियां हो जाती हैं। उन मनुष्यों की श्रेणी पहली मानी जा सकती है जिन्होंने कभी सफलता की ओर कदम नहीं उठाया। दूसरी श्रेणी में वे मनुष्य आते हैं जिनमें कारण पाकर कभी सफलता की ओर बढने का जोश उत्पन्न होता है, सफलता की ओर बढने के जोश में वे अपने गुस्से, घमंड, लोभ, मोह को काबू में रखते हैं। जिनमें इतने जोर का गुस्सा वगैरा है कि उस गुस्से में वे अपना अपघात कर सकते हैं ऐसे आदमी कभी दूसरी श्रेणी में प्रवेश नहीं करते और सदा पहली श्रेणी में ही पड़े रहते हैं। होता असल में यह है कि उनको इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि उनके अन्दर एक बडी जबरदस्त शक्ति छिपी हुई है, जो सब कुछ काम कर सकती है जिसको

आस्तिक लोग आत्मा-परमात्मा के नाम से पुकारा करते हैं। दूसरी श्रेणी मे इस शक्ति का विश्वास और ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

तीसरी श्रेणी मे वे मनुष्य आते है, जिन्हें सफलता की प्राप्ति मे सन्देह होने लगता है। उन्हें ढिलमिल-यकीन के नाम से पुकारा जा सकता है। इस तीसरी श्रेणी मे होकर उन व्यक्तियो को नहीं गुज़रना पडता जिनमे जन्म से ही गुस्सा इत्यादि कम पाया जाता है।

चौथी श्रेणी उन लोगो की है, जिन्हे एक बार सफलता की ओर पग बढाने की सूझी थी पर अब वे बिल्कुल हताश हो गए हैं। और उन्हे अपने अन्दर की शक्ति का रती भर भी विश्वास नहीं रह गया है। इस चौथी श्रेणी मे मनुष्य कुछ क्षण ही रहता है और उसके बाद वह पहली श्रेणी मे पहुच जाता है। साधारण मनुष्यों मे यही क्रम चलता रहता है। वे पहली दूसरी, तीसरी, चौथी और पहली मे घूमते रहते हैं। ऐसा मनुष्य कभी नेता नहीं बन सकता, महापुरुष बनने की तो बात ही क्या ?

इन सब के बाद यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या यह जानने की कोई बाहरी पहचान भी है कि कौन मनुष्य किस श्रेणी मे है ? पहचान है ज़रूर और वे बताई भी जायगी पर उन पहचानो के जानने से पहले यह ज़रूर ख्याल रक्खा जाय

कि उन पहचानो का उपयोग दूसरो पर न किया जाकर अपने ही पर किया जाए। चरित्र की कसौटी पर दूसरो को कसना सफलता के मार्ग पर चलने वाला का काम नहीं, वे तो सदा अपने ही को कसौटी पर कसते और आगे बढ़ते हैं।

कौन मनुष्य दूसरी श्रेणी मे चढ़ गए हैं, उनकी पहचान बताने से शेष पहली, तीसरी, चौथी श्रेणी मे रहने वाले मनुष्यों की बात अपने आप समझ मे आ जायगी। दूसरी श्रेणी के मनुष्य मे जो बात अपने आप दिन पर दिन बढ़ती चली जाती है, उनमे से एक है "निर्भयता" यानी उसका डर दिन दिन कम होता चला जाता है। इसी निर्भयता का दूसरा नाम 'सन्देह मुक्ति' भी है। सफलता के मार्ग पर चलने वाले को उसकी प्राप्ति मे कोई सन्देह भी नहीं रह जाता। डर और शका मार्ग मे अन्धेरे और झाड़ी झंखाड़ का काम करती हैं। इनके रहते हुए एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। जिस तरह डर कर कागज फाड़ने से टेढ़ा मेढ़ा फट जाता है या जिस तरह डर कर लालटेन से लैम्प मे तेल डालने से गिर जाता है, उसी तरह डर कर सफलता के मार्ग पर चलने से पाव असफलता की ओर बढ़ने लगता है। इसलिए पहली पहचान यही है कि जिन मनुष्यों मे जितना कम डर और सन्देह पाया जाता है, उनको सफलता के मार्ग मे उतना ही आगे बढ़ा समझना चाहिए।

दूसरा गुण जो दूसरी श्रेणी के लोगों में देखने को मिलेगा, उसका सम्बन्ध उस लगन से है जो उनमें सफलता की ओर बढ़ने की होती है। उस लगन के कारण उनमें सफलता पाने के अतिरिक्त और किसी चीज की इच्छा रह ही नहीं जाती। वे अपने श्रम का कभी बदला नहीं चाहते, वे तीनों प्रकार के बदलों से बहुत ऊँचे उठते चले जाते हैं। उनके उस गुण का नाम 'निश्शुल्कता' रक्खा जा सकता है। तीन प्रकार के बदले होते हैं— काम के बदले काम, काम के बदले दाम, और काम के बदले इनाम। वे किसी की सेवा करके यह कभी आशा नहीं रखते कि वे उससे सेवा पायेंगे और न किसी की सेवा करके वे पैसा पाने के इच्छुक होते हैं, वे यह भी नहीं चाहते कि जिनकी उन्होंने सेवा की है वे उनकी जा-बजा तारीफ़ करें। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि यह बदले सफलता के रास्ते में डर से कम खतरनाक चीज नहीं हैं। वे तो सफलता की प्राप्ति को ही अपने ध्येय की प्राप्ति मानते हैं। वे मानसिक और आत्मिक सुख को शारीरिक सुख से कहीं बड़ा मानते हैं। उनका यह विश्वास दिन पर दिन दृढ़ होता जाता है कि मानसिक और आत्मिक सुख शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए हर तरह काफी हैं। इसीलिए वे शरीर की ओर बिना देखे हुए भी उसको स्वस्थ बनाए रख सकते हैं।

तीसरा गुण जो इनमें पाया जाता, वह होता है प्रसन्नता।

दूसरी श्रेणी के लोग सदैव हसमुख पाए जायगे, उनके हँसमुख रहने का कारण साफ है। उनको सफलता की प्राप्ति मे इतना विश्वास हो जाता है कि सफलता उनको सामने दिखाई देने लगती है। वे बलपूर्वक यह कह सकते हैं कि उनका अमुक काम अमुक दिन पूरा हो जायगा। जिस तरह जगल मे भटके हुए मनुष्य का चेहरा सीधे रास्ते पर आकर खिल उठता है, ठीक उसी तरह से अविश्वास के जगल मे भटकते हुए विश्वास के सीधे पथ पर आने से प्रसन्नता चेहरे पर छा जाती है। सफलता पथ के पथिक को लोक-सग्रह की आवश्यकता होती है। लोक सग्रह के लिए प्रसन्न वदन होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए बिना प्रसन्नता के कोई मनुष्य सफलता के मार्ग मे आगे नहीं बढ सकता। यह प्रसन्नता अर्जित नहीं करनी पडती। गुस्से, घमड इत्यादि को काबू मे लाने से अपने-आप उत्पन्न हो जाती है। जिस तरह कच्चा आम अपने आप पकने पर पीला हो जाता है, ठीक इसी तरह गुस्सा, घमड इत्यादि विश्वास की गर्मी पाकर प्रसन्नता मे परिवर्तित हो जाते हैं।

चौथा गुण जो उनमे पाया जाता है, उसे 'निर्वैरता' के नाम से पुकारा जा सकता है। अब उनका कोई वैरी नहीं रह जाता। अगर कोई वैरी रह जाते हैं, तो वह होते हैं उनके दुर्गुण। सफलता के मार्ग मे अपने दुर्गुणों के अतिरिक्त दूसरे

मनुष्य या और कोई प्राणी बाधक नहीं हो सकते। यदि ऐसा होता तो संसार में न कोई नेता बन सकता, न कोई महापुरुष। इसी 'निर्भयता' के कारण उनमें यह चार बातें पैदा हो जाती हैं। वे न कभी किसी की बुराई करते, न कभी किसी की बुराई सुनना पसन्द करते। वे बुराई करते जरूर हैं, लेकिन सिर्फ अपनी। वे औरों के कसूर को अपना ही कसूर मानने लग जाते हैं। वे यह खूब जानते हैं कि यदि एक मनुष्य महापुरुष होकर जगत को तार सकता है तो एक नीच महापापी होकर डुबो सकता है। यही कारण है कि जब जब उनके साथी गलतियां करते हैं तो वे अपने को ही उन सब का मूल कारण मानते हैं। वे अपने आप मियांमिट्ठू नहीं बनते। और वे बन भी कैसे सकते हैं? जो दूसरों की गलती को अपनी गलती समझता है, उसे अपनी तारीफ़ करने का मौका ही कहां मिल सकता है? हां, वे दूसरे के गुणों का बखान करने में कभी नहीं चूकते। ऊपर बताई हुई चार बातें भी उनमें अपने आप आ जाती हैं, कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इस निर्भयता से लगा हुआ एक गुण उनमें और उत्पन्न हो जाता है। उसको रोक-थाम के नाम से पुकारा जा सकता है। इस गुण की वजह से उन्हें मार्ग में चलने में बड़ी सुविधा होती है। उन्हें अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचने की

इतनी फिक्र नहीं होती जितनी अपने साथियों को हताश न होने देने की। वे अपना बहुत सा समय उन साथियों को उत्साहित करने में लगाते हैं जिनको वह निरुत्साहित पाते हैं, उनकी भूलों को वे भूल ही नहीं मानते किन्तु उनको समझाते हैं कि यह भूल तो ऊपर चढ़ने की सीढ़ियाँ हैं। सफलता की यह परिभाषा कि वह असफलताओं का पुञ्ज है, ऐसे ही लोगों की बनाई हुई मालूम होती है। यह परिभाषा निरुत्साहित में उत्साह फूंकने में भग का काम करती है। इस एक खास गुण से औरों का लाभ हो या न हो, उनका अपना आत्मा खूब बल प्राप्त करता है और सफलता की मूर्ति क्षण क्षण स्पष्ट होती चली जाती है। संसार के बड़े बड़े विजेताओं में यह गुण बहुत बड़े परिमाण में पाया जाता है। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति मात्र से विपक्षी घबरा कर उनकी शरण आ जाता है। नहीं तो लाखों की संख्या में एक व्यक्ति का मूल्य ही क्या।

ऊपर गिनाए हुए गुण जैसे और भी गुण उनमें प्रगट हो जाते हैं और इसीलिए वे अन्य मनुष्यों से पृथक किये जा सकते हैं और पहचाने जा सकते हैं। उन्हें पहचानने की जरूरत ही नहीं रह जाती। जो उन्हें पहचानने जाता है, वह उन्हें देख कर उनकी ओर इतना खिंचने लगता है कि उनमें मिल जाता है और उनको अपना ही समझने लगता है। उसे

यह बात याद ही नहीं रहती कि वह उसे पहचानने आया था। अविश्वास के झंझट में फँसी दुनिया ऐसे लोगों को सिद्ध नाम से पुकारती है। जो उनसे मिलते नहीं, वे उन्हें जादूगर कहते हैं और इस तरह से अनेकों नाम से वे पुकारे जाते हैं।

धीरे धीरे ऐसे लोगों की प्रसन्नता विश्व प्रेम का रूप धारण कर लेती है और सफलता के तत्व उनके सामने इतने साफ हो जाते हैं कि जिस तरह हाथ पर रक्खा हुआ आंवला।

जब सफलता एक है, तब राजनैतिक सफलता, आर्थिक सफलता, धार्मिक सफलता के तत्व अलग अलग नहीं हो सकते। सफलता के तत्वों का जानकार क्या राजनैतिक क्षेत्र, क्या आर्थिक क्षेत्र, क्या धार्मिक क्षेत्र सब में सफल हो सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सफलता नाम है उस शक्ति के ज्ञान का, जो हमारे अन्दर मौजूद है। तब सफलता के तत्व भी हमको अपने अन्दर से ही प्राप्त होंगे। उनको खोजने के लिए हमें दुनियां में न घूम कर अपने अन्दर ही घूमना पड़ेगा। विचार करने से सफलता के तत्व यही हो सकते हैं—

१—हमारी शक्ति यानी हम। इसका और छोटा नाम "स्व' रक्खा जा सकता है। तब एक तत्व हुआ—स्व।

२—वह चीज जो हमारी शक्ति को नहीं जाने देती। यानी यह कि हम क्या हैं, इसका पता नहीं लगने देती। एक ही शब्द मे उसको पर कहा जा सकता है।

३—यह पर स्व तक कैसे आया? यानी तीसरा तत्व हो सकता है "पर का स्व तक पहुचने का रास्ता"।

४—इस पर को स्व मान बैठना। यह हुआ चौथा तत्व।

५—पर के स्व तक आने के रास्ते को रोक देना।

६—पर के स्व मानना छोड देना।

७—अपनी शक्ति को ही सफलता समझना।

राजनैतिक क्षेत्र मे अपने देशवासी "स्व" नाम से पुकारे जा सकते हैं। विदेशियों को "पर" नाम दिया जा सकता है। और इसी तरह शेष तत्व समझे जा सकते हैं।

आर्थिक क्षेत्र मे अपनी पूंजी 'स्व' और दूसरे की लगी हुई पूंजी "पर" कही जा सकती है और सफलता पाने के लिए इस "पर" से ही छुटकारा पाने से काम चल सकता है।

धार्मिक क्षेत्र मे यही "स्व" आत्मा बन जाता है और गुस्सा, घमड, रोष इत्यादि कर्म "पर" कहलाते हैं। आत्मा को समझना ही धार्मिक क्षेत्र मे सफलता या मोक्ष नाम पाता है।

इन सब तत्वों को समझ कर दूसरी श्रेणी के मनुष्य तीसरी, चौथी श्रेणियो को लाघते हुए पाचवी श्रेणी मे प्रवेश करते हैं। और इसी तरह तेजी से आगे बढते हुए वे अपनी शक्ति से मिल जाते हैं और वे साकार सफलता बन जाते हैं। फिर वे जिस क्षेत्र म भी प्रवेश करते हैं, सफल होते हैं पर अभिमान से दूर रहते हैं।

देव और पुजारी *

[वक्ता—श्री गगनविहारी मेहता, कलकत्ता]



(१)

फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक रोम्यां रोलाँ ने एक बार कहा था कि "मनुष्य-जाति ने सदियों तक ईसामसीह के आने की प्रतीक्षा की पर जब वास्तव में ईसामसीह दुनिया में आया तो उसे फाँसी पर लटका दिया, और अगर फिर आवे तो वे उसे फिर फाँसी पर लटका देंगे।' यह बात सोचने में तो दुःखद मालूम होती है पर वास्तव में है सच। सदियों के

* वक्ता ने अपना भाषण अंग्रेज़ी में लिखा था, उसका हिन्दी अनुवाद ही यहाँ दिया जाता है। —मन्त्री

धार्मिक और नैतिक विकास के बाद भी आज क्या मानव-जाति सत्य, शिव और सुन्दर के आदर्शों को समझने लगी है जिनकी स्थापना में दुनियाँ के महान पुरुषों ने अपना जीवन खपाया और मृत्यु तक का स्वागत किया। कभी कभी तो सचमुच यह शंका होने लगती है कि क्या वास्तव में इन महान पुरुषों के अवतार से संसार को कुछ लाभ हुआ है। आज पर्युषणपर्व के इस पवित्र सप्ताह में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र रूपी रत्नत्रयी धर्म के प्रचारक चरम तीर्थङ्कर श्री महावीर की स्मृति को ताजा करने जब हम यहाँ एकत्र हुए हैं तो इस अवसर पर हमें ऐसी शंकाओं पर शान्ति से विचार करना चाहिये।

एक अंग्रेज विचारक मैथ्यू आरनाल्ड ने कहा है कि 'Religion is morality touched by emotion' अर्थात् भावुकतामय नीति का ही नाम धर्म है। हम जिसे 'धर्म' कहते हैं, वह एक गंभीर और व्यापक शब्द है। सच पूछिये तो मनुष्य को किसी चीज के सहारे की, आलम्ब की, उसमें विश्वास रखने की नितान्त आवश्यकता होती है। दुःख को सहने की और मौत और उसके भी परे परलोक का मुकाबला करने की हिम्मत साधारण आदमी में नहीं होती। उसे इस असीम विश्व में किसी सहारे की जरूरत होती है और यह जरूरत सदा धर्म पूरी करता आया है और विशेषकर उन

महापुरुषों की जीवन-कथा जिन्हें हम विभिन्न धर्मों के संस्थापकों के रूप में पहचानते हैं। बुद्धि कुछ भी कहे, आखिरकार व्यक्तिगत उदाहरण ही—किसी बुद्ध, किसी ईसामसीह, मुहम्मद या महावीर का जीवन ही—सदा हमारा पथ प्रदर्शक रहता है। तभी तो यूनान के प्रसिद्ध विचारक अरस्तू (Aristotle) ने अपने नीति-शास्त्र में यह कहा है कि सदाचारी आदमी ही सदाचार परखने की अन्तिम कसौटी है और उसका जीवन ही सदाचार का जीता-जागता उदाहरण। सारा तर्क कर चुकने पर अन्त में हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि "महाजनो येन गतः स पन्था"—महापुरुष जिस मार्ग पर चले हैं, वही हमारे लिये श्रेष्ठ है। आज समानता के युग में शायद इस प्रकार की व्यक्ति की उपासना समयानुकूल न मालूम हो पर अन्तिम सत्ता प्रजा के हाथ में होते हुए भी तो उसके संचालन के लिये एक महान और निरभिमानी नेता का होना जरूरी है। इसे आप पश्चिमी तानाशाही न समझें, जिसने सत्ता के मद से लिप्त राजनीति के द्वारा आत्मा की आवाज को दबा दिया है और जिसने जातीय भेद-भाव, घृणा और हिंसा के आधार पर एक प्रकार का जनून पैदा किया है। जो अवतारी पुरुष या पैगम्बर हुए हैं उन्होंने संसार के लिये ही संसार को छोड़ा है, सर्वस्व त्याग करके उस पर और भी अधिक अधिकार पाया है। और फिर हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि यह यूरोप और अमेरिका आदि

पश्चिमी देशो के आध्यात्मिक दिवाले का ही परिणाम है जो उन देशो मे इस तरह के विषम सिद्धांत घर कर सके हैं। वहाँ की तानाशाहियो ने धर्म का स्थान लिया है। इन दलों मे भी धर्म ही की तरह पूजा, क्रिया काण्ड और प्रतीक्षा की कमी नहीं है। इतिहास बराबर यही सिखाता है कि सिद्धांतो और आदर्शों की तरह व्यक्तित्व भी जनता पर उतना ही असर करता है। अवतारी पुरुष का एक आत्मत्याग—प्रेम और उदारता का एक भी काम—उसके पीछे आने वाले पट्टधर शिष्यों के सैकड़ो उपदेशों और क्रिया काण्डो से ज्यादा मानव हृदय पर असर करता है। वास्तव मे किसी भी धार्मिक आन्दोलन की यह विशेषता भी है और कमजोरी भी कि उसके प्रचार के लिये केवल सिद्धान्तों मे विश्वास होना ही काफी नहीं है परन्तु उन सिद्धांतो मे जीवन डालने और समझाने वाले एक महान आत्मा की भी आवश्यकता होती है।

(२)

श्रीकृष्ण ने भगवद् गीता मे कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

जब जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का प्रसार, तब तब मैं अवतार लेता हूं। जैन परम्परा के अनुसार भी समय

समय पर मानवजाति के कल्याण के लिये तीर्थंकर या अर्हत सत्य का ज्ञान कराने के लिये उत्पन्न होते हैं। अर्हत की श्रेणी मानव-विकास की सब से ऊंची सीढ़ी है। इसी श्रेणी में तीर्थंकर मनुष्य के चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति के लिये मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हैं। मनुष्य समाज में तीर्थंकर का स्थान उतना ही ऊंचा है जितना अन्य धर्मों में पैगम्बरों या अवतारों का। यही महान पुरुष, चाहे उन्हें अवतार कहिये या पैगम्बर या तीर्थंकर, हमारे मार्ग में ज्ञान का प्रकाश करते हैं।

पर, यदि हम जीवन को देखें तो धर्म केवल व्यक्तिगत या आध्यात्मिक चीज ही नहीं है। वह एक सामूहिक वस्तु भी है और धीरे धीरे प्रत्येक धर्म एक संस्था का रूप ले लेता है जिसके अपने विधि निषेध के नियम और क्रिया-काण्ड बन जाते हैं। उसका एक संगठन खड़ा हो जाता है और उस संगठन में मानने वाले और उसकी रक्षा करने वाले अनुयाइयों का समूह भी। जिस तरह प्रकृति में प्रत्येक भाव का विरोधी भाव पैदा हो जाता है, वही हाल धर्म का भी है। संसार या तो महात्माओं की अवगणना करके या फिर उनके उपदेशों के शब्द मात्र का निर्जीव अनुकरण करके उनकी विडम्बना करता है। संसार के सभी धर्म-संस्थापकों की लगभग एक ही गति हुई है और वह यह कि संसार उनके आदर्शों पर चलने के बजाय उनकी पूजा करता है। किसी भी धर्म के अनुयाइ

उसक प्रवर्तक स कितन दूर चले जात है, इसको एक बार यूरोप क प्रसिद्ध तत्ववत्ता निरशे (Nietzche) न बहुत ही सुन्दर शब्दों म समझाया था। उसन कहा था कि दुनिया म एक ही सच्चा इसाइ पैदा हुआ था और वह था स्वय इसामसीह जिस लोगो न फासी पर लटका दिया। हो सकता है कि निरशे क वाक्य म कुछ अतिशयोक्ति हो पर इसम सन्देह नहीं है कि पैगम्बरो क सजीव सिद्धांत उनके अनुयाइयो म निर्जीव क्रिया काण्ड का रूप धारण कर लेत है, युग द्रष्टा की उदार और व्यापक दृष्टि अन्धविश्वास और रूढि का रूप धारण कर लेती है। वास्तव म देखा जाय तो किसी भी धम का ह्रास जितना उसक विरोधियों के विरोध मे नहीं दिखाइ दता, उतना उसक अनुयाइयो क रूढि पालन म नजर आता है।

फिर भी मानवजाति क इतिहास म धार्मिक सगठन का एक महत्वपूण स्थान रहा है। धार्मिक सगठन की अपनी मर्यादा बनी, परम्परागत धम गुरुओ की गद्दियाँ स्थापित हुइ, मन्दिर और मसजिद अगाध सम्पत्ति क केन्द्र बन गये, उनक अपने नियम और कानून बन और उन नियमों क साथ साथ उनके कर और दण्ड भी निर्धारित हुए। करीब करीब सभी देशों म इस प्रकार क सगठित धर्मों क गुरुओ की सत्ता इतनी बढी कि उसन वहां की राजनैतिक सत्ता स भी टक्कर ली और कहीं कहीं तो व सारा राज्य-

व्यवस्था के सूत्रधार ही बन बैठे। भारतवर्ष में क्षत्रियों और ब्राह्मणों की स्पर्धा और यूरोप में पोपों और राजसत्ता के बीच संघर्ष इसके उदाहरण हैं। वास्तव में धर्म-गुरुओं की इस परम्परागत सत्ता के रूढ़ हो जाने के कारण ही फिर नये धार्मिक आन्दोलनों का जन्म होता है। बुद्ध और महावीर ने हिन्दू धर्म में रूढ़ ब्राह्मण-सत्ता के विरुद्ध और यूरोप में ल्यूथर ने रोम की पोप सत्ता के खिलाफ बगावत की।

सभी संगठनों में एक प्रकार की अनुदारता या कट्टरता आ ही जाती है। धार्मिक संगठन में भी रूढ़िवाद, अनुदारता और अपने पराये की भावना घुस जाती है। प्रत्येक धर्म के गुरु अपने ही दृष्टिकोण से सत्य का प्रतिपादन करते हैं, उसी को अन्तिम सत्य बताते हैं और उस सत्य को जो वचन या कर्म से नहीं मानते [illegible] करते हैं। इतिहास के किसी भी निष्पक्ष वाचक [illegible] छिपा है कि धर्मान्धता ने कितनी [illegible]। धर्म के नाम पर बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हुई हैं, एक जाति ने दूसरी जाति पर अत्याचार किये हैं [illegible] किया है। परम्परारूढ़ धर्म-गुरुओं ने [illegible] के विकास में बाधा डाली है और [illegible] किसी भी प्रकार के फेरफार का विरोध किया है। [illegible] जनता को यही सिखाया है कि [illegible] के लिए या परमात्मा के [illegible]

करने के लिये मन्दिरों में या उनके महन्तों को दान देना या व्रत उपवास करना काफी है। जैन धर्म न तो ऐसे स्वार्थी महन्तों की भक्ति को और उनके बताये हुए मार्ग पर चलने को एक प्रकार का मिथ्यात्व बतलाया है। आज भी हम हिन्दुस्तान में भिन्न भिन्न लोगों से इस प्रकार की बात सुनते हैं कि हमारा धर्म खतरे में है। वास्तव में धर्म से उनका मतलब अपनी भौतिक सुख सामग्री और इच्छाओं का ही होता है क्योंकि यह तो मानने में नहीं आता कि धर्म जैसी चीज के अस्तित्व और विनाश का केवल रोटी के टुकड़ों और रोटी के बटवारे से कोई सम्बन्ध हो। धर्म के नाम पर कभी कभी तो एक ही धर्म के अनुयाई आपस में मर फोड लेते हैं और ऐसी बातों पर जो बुद्धि से सोचने पर निकम्मी मालूम होती हैं। इससे भी आश्चर्य की बात तो यह है कि ईश्वर और मुक्ति का सदेश जनता तक पहुचाने के लिये—धर्म के प्रचार के लिये—लोगो ने तलवार और बन्दूक काम में लाने में भी आगा-पीछा नहीं किया। यह सच है कि आज पश्चिम में आदमी की पशुता आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में ही ज्यादा प्रस्फुटित हुई है पर हिन्दुस्तान में तो आज भी धार्मिक भेद भाव अपना अनुदारता में राजनीति से बाज़ी ले जाते हैं।

ऊपर की बातों से यह तो आप को मालूम हो गया

होगा कि प्रत्येक धर्म की सब से बडी बुराई उसने एक सीमित सम्प्रदाय बन जाने में और महन्तो, क्रिया-काण्डों और रूढियों की परम्परा मे है। और इसी क कारण फिर विचार क्रान्ति और धर्मों क प्रति अरुचि पैदा होती है। जैसा एक वार बुद्ध-जयन्ति के अवसर पर गांधीजी न कहा था, "पुजारी ही अपन देव की आत्मा का खून करते हैं।" यह ठीक है कि शास्त्रों और सूत्रों को जिन्हे ईश्वर-प्रणीत कहा जाता है, आम लोगो को समझाने क लिये और उन्हें धर्म मे दीक्षित करने क लिये गुरुओं की या महन्तों की आवश्यकता होती है पर क्या यह माना जा सकता है कि ऐसे धर्म गुरुओ मे जो आध्यात्मिक गुण होने चाहिये, व पुश्तैनी या जाति विशेष के कारण या परम्परागत क्वल गुरु की गद्दी पर बैठ जाने से आ सक्ते हैं। इस तरह की गुरु-परम्परा की सब लाभ-हानियों को देखने हुए यह मानना पडता है कि यह परम्परा ही सत्ता और रूढिवाद की पोषिका बन कर धर्मों को अनुदारता, अत्याचार और दम्भ का दोषी ठहराती है। आत्मा और परमात्मा के बीच ऐसे दलालों की जरूरत नहीं है।

(३)

पर, आप मेरी बात से कोई गलतफ़हमी पैदा न कर। धर्म की आत्मा उसके बाहरी ढांचे से ऊपर होती है। क्या

महापुरुषों के, धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से मानवजाति को नैतिक विकास की शिक्षा नहीं मिली? क्या उन्होंने अपनी व्यापक और गहरी दृष्टि से लाखों आदमियों में श्रद्धा उत्पन्न नहीं की? मानवजाति ने चाहे अभी तक इस दिशा में ज्यादा प्रगति न की हो, पर मानव प्रकृति में जो सुधार और विकास हुआ है उससे भविष्य तो कम से कम उज्ज्वल मालूम होता है। साहित्य, संगीत, शिल्प और कला को, जो मानवजाति के वास्तविक विकास के सूचक हैं, धार्मिक भावना से बड़ा प्रोत्साहन मिला है। और हम उस अनन्त सूक्ष्म और अगाध तत्त्वज्ञान को भी कैसे भूल सकते हैं जो भिन्न भिन्न धर्मों में प्रकट हुआ है हालाँकि मानवज्ञान और क्रिया की ऊँची से ऊँची वस्तु भी आत्मा का केवल एक अपूर्ण प्रतिबिम्ब ही है। मनुष्य की सहज कमजोरियाँ उसके आध्यात्मिक विकास को रोकती हैं पर पैगम्बरों के जीवन के ज्वलन्त उदाहरण, उनकी साधना, सफलता और असफलता मनुष्य की प्रगति में उसके पथ प्रदर्शक बनते हैं और सैकड़ों हजारों वर्षों के बाद भी हम इस बात की सूचना करते रहते हैं कि आत्मा कितनी ऊँची उठ सकती है। जब हम धर्म की बुराइयों पर नजर डालें तो साथ ही साथ इस बात को भी न भूलें कि धर्म ही मनुष्य के सामने निःस्वार्थ सेवा और त्याग का आदर्श रखता है और उसमें अपने से ऊँचे किसी

आदर्श, शक्ति या आत्मा के प्रति भक्ति पैदा करता है। धर्म न ही मनुष्य को अपनी प्रकृति से ऊपर उठाया है। तर्क या उपदेश से चाहे विश्वास जमे या न जमे, श्रद्धा उत्पन्न हो या न हो पर एक वास्तविक ज्वलन्त उदाहरण हमारे हृदय में परिवर्तन कर देता है।

और देशों की तरह हमारे देश में भी बड़े बड़े सन्त और ऋषि हुए हैं जिन्होंने जीवन के तथ्य को समझा है और सांसारिक सुखों की क्षण-भंगुरता का अनुभव किया है। उनकी आत्मा की उड़ान को, उनकी भावनाओं को हम शायद वैज्ञानिक कसौटी पर न कस सकें क्योंकि जैसा महाकवि गेटे ने कहा था, "सत्य कहा नहीं जा सकता, उसका अनुभव ही किया जाता है।" मीराबाई, कबीर, रामदास और चैतन्य जैसे सन्तों के भक्तिरस की धारा भारतवर्ष की ऐसी सम्पत्ति है जो दूसरे देशों के उपनिषदों इत्यादि की सम्पत्ति से कहीं ऊंची है। धर्म-संस्थापकों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि सच्चा धर्म केवल उपदेश या क्रियाकाण्ड नहीं पर वह वस्तु है जो जीवन में उतारा जा सके। उदाहरण स्वरूप महावीर के बाद जैन धर्म का सुदूर देशों में—उत्तर में सिन्धु के किनारे से लेकर दक्षिण भारत तक में—प्रचार हुआ और उसके साथ साथ अहिंसा और सामाजिक कल्याण की उदात्त भावनाओं का भी। कहा जाता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं अपना राज्य छोड़कर

श्री भद्रबाहु के साथ दक्षिण गये थे। इसी प्रकार अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

मनुष्य के लिए आध्यात्मिक विकास का सब से सरल मार्ग दूसरे मनुष्यों की सेवा का है। इसीलिए जैन धर्माचार्यों ने कितने ही प्रकार के अहकार बतलाये हैं जो आत्मा के विनय रूपी गुण के विरोधी हैं। जाति का अभिमान भी उनमें से एक है, क्योंकि स्वय भगवान् ने बतलाया है कि एक मातग अर्थात् चांडाल भी, अगर उसकी श्रद्धा सच्ची है तो देवों का देव समझा जायगा। आज भी हम देखते हैं कि दीन दुखियों की सेवा में धर्म की सच्ची आत्मा रही हुई है। धर्म कभी वर्तमान के सुलगते हुए प्रश्नों की अवगणना करके ठहर नहीं सकता। उसे ये प्रश्न सुलझाने ही होंगे। धार्मिक कहलाने वाले मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह पुजारियों के मन्त्रों की अपेक्षा जनता के भोजन के प्रश्न का अधिक ख्याल रखे। महत क्या उपदेश देते हैं, इससे अधिक इस बात का विचार करे कि उनके अनुयायी क्या करते हैं। जीवन कोई सरल वस्तु नहीं है। मुक्ति या आत्मशुद्धि के लिए कोई झटपट से पहुँच जाय, ऐसा सीधा रास्ता नहीं है। जैसा बट्रेन्ड रसेल ने कहा है, "हमारे जीवन का ध्येय सिर्फ इतना ही नहीं है कि हम जैसे तैसे ईश्वर के कोप से बचते हुए अपना जीवन पूरा करें। यह संसार हमारा है, और अगर हम चाहे तो इसे स्वर्ग या नरक बना

सकते हैं।" सच्चा धर्म मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक सभी क्षेत्रों को छूता है और उसका ध्येय सामूहिक प्रयत्न से समाज की उन्नति करना है। जैन धर्म के सिद्धांत का केन्द्र भी यही है कि मनुष्य-जन्म देवगति से भी ऊँचा है। देवों के राजा देवेन्द्र भी यदि चाहें तो सीधे मोक्ष में नहीं जा सकते। उन्हें इसके लिए मनुष्य-भव में आना ही पड़ेगा। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक सत्य है कि मनुष्य-जीवन संसार के सब धन-दौलत से बढ़कर है। पर दुख इस बात का है कि धर्म के नाम पर व्यक्तिगत आचार-विचार तो बराबर सिखाये जाते हैं, किन्तु धर्म की आत्मा भुला दी जाती है तथा सामाजिक और सामूहिक जीवन से धर्म अलग हो जाता है। और आज के हमारे पढ़े-लिखे नवयुवक हमारी पुश्तैनी धार्मिक भावनाओं से तो दूर हो ही गये हैं, पर पश्चिम की सामाजिक कल्याण और विवेकपूर्ण दान-वृत्ति की भावनाओं को भी उन्होंने नहीं अपनाया। पश्चिम में भी जो लोग मानव-समाज के दुखों को कम करना चाहते हैं, उनमें धार्मिक भावना आये बिना नहीं रहती, चाहे वे धार्मिक मठों या संस्थाओं को कितना ही बुरा समझते हों। साम्यवादी रूस के कुछ प्रसिद्ध साम्यवादियों की तुलना भी त्याग और संयम की दृष्टि से किसी भी धर्म के साधुओं से की जा सकती है। हिटलर के लिए भी स्वयं एक अंग्रेज विचारक ने, जो उसके सिद्धांतों और

कार्यों से सहमत नहीं है, यह कहा है कि नैतिक पतन और नास्तिकता के आज के युग में वह अर्थात् हिटलर, आत्म-त्याग, कर्तव्य भावना और देश के लिए निजी सुखों का बलिदान करने की दृष्टि से एक ऐसा व्यक्ति है जिसने संसार को यह दिखलाया है कि आत्मा भौतिक सुखों से ऊपर है। जब कि बुद्धि में विश्वास करने वाले आज के शंकाशील युवक केवल शंका ही करते रहते हैं, तब साम्यवाद या फासिज्म जनता की श्रद्धा और विश्वास की भूख मिटाते हैं और उसके सामने आदर्श उपस्थित करते हैं। आज जो राष्ट्र फासिज्म या साम्यवाद को बुरा समझते हैं, वे जब तक अपने राष्ट्र में इस तरह की असीम आत्मशक्ति, नैतिक नियन्त्रण और आदर्श उपस्थित नहीं करते, तब तक संसार में नया युग केवल स्वप्न रहेगा। पर यह नैतिक बल कहाँ से मिले ?

(४)

कुछ विचारकों का कहना है कि बिना हृदय परिवर्तन के अब संसार को नाश से नहीं बचाया जा सकता। कुछ तो यह भी कहते हैं कि इस दुनियाँ में एक नये पैगम्बर की आवश्यकता है। बहुत से ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जो उत्सुकता से ऐसे अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जैसे संसार में अभी तक महापुरुष या अवतारों की कमी रही हो। हमें किसी नये अवतार की आवश्यकता नहीं, जो हो गये हैं उन्हीं के आदेशों

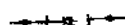
का अगर हम पालन कर तो काफी है। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि इतिहास के आरंभ से अब तक धार्मिक सगठनो ने अनुदारता, वहम और अन्याचार का पोषण करके मानवजाति का भला करने के बदले बुराई ही अधिक की है। उधर कट्टर पथी अपने अनुयाइयो की सख्या बढाने और एक-दूसरे के धर्मों की समालोचना करने मे ही मग्न रहते हैं।

इन शकाओ और समालोचनाओ का समाधान होना जरूरी है, पर हम परखे कैसे कर—धर्म-प्रवर्तको द्वारा जीवन मे उतारे हुए आदर्शों से या इनके अनुयाइयों के रूढ़िवाद से? सिद्धान्तो की तुलना तो केवल बौद्धिक चीज है क्योंकि एक पैगम्बर से दूसरे पैगम्बर के उपदेशो मे कोई बहुत ज्यादा अतर नहीं है और इसलिये भी कि उनके अनुयाइयो के जीवन मे व बात नहीं के बराबर है। दूसरी ओर अगर हम विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों के आज के जीवन की तुलना कर तो यह काम असभव हो जायगा। पर, अगर नास्तिको और कट्टर-पथियो दोनो का समाधान करना हो तो धार्मिक वृत्ति वाले मनुष्यो का कर्तव्य है कि व धार्मिक सगठनो की दीवार के ऊपर उठकर धम-सस्थापकों के उपदेशों को महन्तो की या पट्टधर साधुओ की भाषा मे नहीं, पर अपनी सहज बुद्धि के अनुसार समझने का प्रयत्न कर और उसके अनुसार आचरण कर। 'धर्म' को बचाने का और इसे मानवजाति की सेवा की ओर प्रगतिशील करने का यही एक मात्र उपाय मुझे दिखाई देता है।

अनुवादक—श्री सिद्धराज ढढ्ढा

धर्म क्या है ?

[वक्ता—श्री जैनेन्द्रकुमार, दिल्ली]



जिस विषय पर मुझे बोलना है, वह है यह कि धर्म क्या है। यह तो मेरे लिये घबराने वाली बात है। धर्म-शास्त्र मैं क्या जानता हूँ ? पर धर्म शायद जानने की वस्तु नहीं, वह तो करने की है। यह नहीं कि बिन जाने करने की हो, पर करने द्वारा ही उसे जानना होता है। क्रिया नहीं तो ज्ञान नहीं। यानी बोलने से तो धर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। भीड़-भाड़ से भी उसका वास्ता नहीं है। धर्म की साधना एकान्त में होती है और मौन द्वारा होती है। बोलने से



श्री जैनेन्द्रकुमारजी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड

तो वाद बनते हैं। वाद से विवाद खड़े होते हैं। अनेकानेक तो आज वाद हैं। उन वादों में आपस में खींचतान है और अनबन है। तू-तड़ाक और मार-पीट तक सुनी जाती है। बोलकर उस कलह के कोलाहल में अक्सर वढ़ती ही हुआ करती है। तब उस बोलने में धर्म कहाँ रक्खा है? इससे वृथा बोलने से रचना ही धर्मानुकूल हो सकता है।

धर्म अनेकता में मेल पैदा करता है। बहुतेरे जो वाद-विवाद हैं, धर्म उनमें समन्वय लाता और शान्ति देता है। धर्म इस तरह शका की नहीं, निष्ठा की वस्तु है। स्वार्थ हमें फाड़ते हैं तो धर्म हमें जोड़ता है।

फिर भी भाग्य का व्यंग समझिये कि उस धर्म के बारे में मुझे बोलना होगा। हाँ, बोलने की भी जगह हो सकती है, बशर्ते कि वह फलप्रद हो। उससे सत्कर्म की प्रेरणा और उत्पत्ति हो, तब तो बोलना धर्म है, नहीं तो अधर्म। कवि का वचन है कि "बुद्धि कर्मानुसारिणी।" उसी तरह बोलना भी कर्मानुसार होना चाहिए। मैं हूँ कि कोई हो, कथनी के पीछे अनुरूप करनी नहीं है तो वैसी कथनी पाखंड हो जाती है। वह बंधन और व्यर्थता बढ़ाती है।

इस पर्युषण व्याख्यानमाला के आयोजन को सिद्ध तभी तो कहा जायगा जब उससे कर्त्तव्य-कर्म में स्फूर्ति और तत्परता मिलेगी। नहीं तो कहे हुए शब्द बुद्धि में चंचलता

जाता है। बुद्धि छिड जाने पर अगर आदमी ठीक काम म न लग जाय और न लगा हो तो अशान्त रहता है। उसको चैन नहीं पड़ता। इससे फिर हानि होती है। मैं यह देखता हूँ कि जहाँ हजार पाच सौ का जमाव रहता है वहाँ व्याख्यान व्यसन हो जाता है। बोलने वाले को उसका नशा चढ़ जाता है और सुनने वाले भाषण को अच्छा बुरा कह कर वहीं पल्ला झाड चलते हैं। यह धर्म थोड़े ही है। इससे पर्युषण पर्व की यह व्याख्यानमाला हवा में नहीं उड़ जानी चाहिये। उसका कुछ परिणाम निकलना चाहिए। अगर परिणाम में एक भी आदमी स्वार्थ का कम कर जीवन को जन सेवा यानी मानव-सेवा में लगाने को चल पड़ा तो बेशक यह आयोजन सफल हो गया समझिये। मैं भी तो बात करता हूँ, मैं कौन काम करता हूँ ? पर सच्चा आदमी मुँह से कम कहता है, उसका चरित्र उससे अधिक कह देता है। कर्मनिष्ठ का तो जीवन ही बोलता है। उसे फिर अलग मुँह से कहने को बहुत कम रह जाना चाहिए।

धर्म क्या है ? आप्त वचन है कि वस्तु-स्वभाव धर्म है। पानी शीतल रहेगा, आग गरम। पानी का धर्म शीतलता अग्नि का गरमी। इसी तरह आदमी को खरा इन्सान बनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म है, मनुष्यता।

लेकिन कहा जायगा कि क्या कोई अपने स्वभाव से बाहर

भी जा सकता है ? जो जो करता है, अपने स्वभावानुकूल। चोर का स्वभाव चोरी करना, झूठ का झूठ बोलना। तब धर्म-अधर्म का कहाँ सवाल आता है ? स्वभाव ही यदि धर्म हो तो अधर्म कुछ रहना ही नहीं चाहिये। क्योंकि अपने स्वभावानुसार बरतने को तो सब लाचार ही है। पानी ठंडा होने और अग्नि गरम होने के सिवा भला और कुछ हो सकती है। तब अधर्म की आशंका कहा ?

हाँ, वह ठीक। लेकिन आदमी की बात अलग है। आदमी में कई तहे हैं। उसका शरीर कुछ चाहता है तो मन कुछ कहता है। इस तरह आदमी में अन्तर्विरोध दिखाई देता है। उससे द्वन्द्व और क्लेश पैदा होता है।

परिणाम निकला कि आदमी अपने स्वभाव में स्थिर नहीं है। वह स्व—स्थ नहीं है।

तब विचारणीय बनता है कि उसका 'स्व' क्या। और स्वास्थ्य क्या ?

विचार करने चलते है तो मालूम होता है कि शरीर ही आदमी नहीं है। वह कुछ और है, उससे सूक्ष्म है और भिन्न है। कहना होता है कि वह आत्मा है। आत्मा जड नहीं चेतन है। इससे जितना आदमी का व्यवहार जड शरीर की वासनाओं से बन्धा नहीं, बल्कि चैतन्य आत्म रूप होगा उतना ही वह स्व-स्थ यानी धर्मयुक्त है।

तो क्या शरीर को काटकाट कर अलग कर देने से शुद्ध आत्मा निकल आयगी ? शकावान एसी शका कर सकता है। अगर आदमी आत्मा ही है और शरीर आत्म-रूपता की सिद्धि मे बाधा है तो उसे सुखा गला कर नाश किया जाय, यही न ?

पर नहीं, ऐसा नहीं। कायिक क्लेश धर्म की परिभाषा नहीं है। सिद्धि का वह मार्ग नहीं है। काया को नष्ट नहीं, वश करना है। काया बिना आत्मा की ही अभिव्यक्ति कहाँ सम्भव है ? काया गिरी कि आत्मा ही अदृश्य हुई। अत जो करना है वह यह कि शरीर अपने प्रत्येक अणु में आत्म धर्म स्वीकार करके चले। आत्मा के प्रति प्रतिरोध और द्रोह उसमें न रह जाय। वह सधे घोड़े के मानिन्द हो। ऐसा शरीर तो मुक्ति-साधना मे साधक होता और इस तरह स्वय एक तीर्थ, एक मन्दिर बन जाता है। आत्म विमुख होकर तो यह बिगड़े घोड़े की तरह दमनीय है ही।

बेशक अशरीरी सिद्ध की कल्पना भी हमारे पास है। चिरम आदर्श की बात कहें तो वहाँ शरीर तक नहीं रहेगा। आत्मा ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप मे विराजती है। अच्छा, तात्त्विक तो यह बात हो गयी। यह सरल भी लगती होगी। अन्तर्विरोध को जीतना, इन्द्रियों को वशीभूत करना और स्वय उत्तरोत्तर शुद्ध चिन्मय आत्मतत्त्वरूप होते जाना धर्म का मार्ग है।

पर व्यवहार मे कठिनाई दीखती है। ठीक ही है, चलो तब तो राह की बाधा का पता चलेगा। चलना ही न शुरू करो तो आगे का रास्ता सीधा-सपाट दीख पडे तो क्या अचरज ? सो धरती पर कदम बढाते है कि उलझन दीखती है। यहां केवल धर्म नहीं मिलता, नाना विशेषणो के साथ वह मिलता है। जैसे जैन धर्म, सनातन धर्म, ईसाइ धर्म, बौद्ध धर्म, इसलाम धर्म। कोइ धर्म अपने को गलत नहीं मानता। और बेशक, कोइ गलत हो भी क्यों ? पर हर धर्म मे कुछ लोग है जो अपने धर्म को इतना एकान्त सही मान लेते है कि दूसरे के धर्म को गलत कहने को उतारू बनते हैं। तब धर्म की जिज्ञासा मे अपने से बाहर निकल कर आने वाले को बडी दुविधा होती है। अनेक उपदेष्टा मिलते है जो कहते है हमारे डेरे मे आजाओ, हमारे पास मुक्ति का मार्ग है। और वह कहते है कि यह हमारा साहित्य पढो, तुलनात्मक बुद्धि से देखकर विवेक से काम लो। तब हो न सकेगा कि हमारे ही धर्म मे तुम न आ मिलो।

दावा सब धर्मों का यही है। और झूठे भला किसको ठहराया जाय ? धर्म-तत्व किसी शिक्षा के पात्र मे हो। अगर वह है तो पात्र उपयोगी है। यानी नाना नाम वाले जितने सम्प्रदाय है, धर्म पूर्वक वे सब सच बनते है। धर्म-हीन होकर वे ही मिथ्या हो जाते है। जैसे जब तक आत्मा है, तब तक

अमुक नामधारी व्यक्ति का देह भी आदरणीय है। आत्मा निकल जाने पर वह देह रोग का घर बन रहता। तब उससे जितनी जल्दी छुट्टी पा ली जाय, उतना अच्छा। इसी तरह जैन अथवा और नामों के नीचे जो सम्प्रदाय बन गये हैं, यदि वहाँ धर्म है तो व जैन अथवा अन्य विशेषण उपादेय ठहरते हैं।

पर देखने में आता है कि कहीं जैन धर्म को ऐसा कसकर चिपटाया गया है कि धर्म तो उसमें से निचुड़ गया है और केवल 'जैन' रह गया है। ऐसे उदाहरण विरले नहीं हैं। वहाँ जन धर्म को धर्म के लिए नहीं 'जैन' के लिए माना जाता है। इस वृत्ति में सम्प्रदाय-मूढ़ता है।

दूसरे सम्प्रदायों में भी ऐसी बात मिलती है। और सच यह कि भीतरी धार्मिकता जितनी कम होती है, साम्प्रदायिक मताग्रह उतना ही उत्कट देखा जाता है। पर यह मोह है।

मैं अपनी बात कहूँ। मैं अपनी मां का इकलौता बेटा था। चार महीने का था, पिता तभी मर गये। मां ही मुझे सब कुछ रहीं। पर एक दिन आया कि उनकी आत्मा देह छोड़ प्रयाण कर गयी। अब आप मेरी हालत जान सकते हैं। पर कलेजे पर पत्थर रखकर मुझे यही करना पड़ा कि स्मशान ले जाकर उनका शव दाह कर आऊं। मेरे लिए यह सुख की बात न थी। पर क्या आप लोगों में से कोई भी मुझे यह सलाह देने को

तैयार है कि मुझ मा की देह से चिपटा ही रहना चाहिये था, छोडना नहीं चाहिए था ?

साम्प्रदायिक रूढ़ियों का भी यही हाल है। यदि धार्मिक तेजस्विता इतनी है कि उसके स्पर्श से क्रिया प्राणवान हो जाय, तो ठीक। नहीं तो आग्रह से निष्प्राण रूढ़ि का पालन कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

विशेषण से विशिष्ट होकर ही जो जगत-व्यवहार में धर्म मिलता है, इससे बुद्धि-विचक्षण पुरुषों को भी भ्रांति होती देखी जाती है। शुद्ध धर्म के मोह में उनमें उन विशेषणों के प्रति अवज्ञा हो जाती है। ऐसी अवज्ञा आजकल अक्सर देखी जाती है। पर यह उचित नहीं। क्योंकि जो रूप-नाम से हीन है, वह जगत के लिये नहीं ही जैसा है। इस लिए सम्प्रदाययुक्त धर्म को भी एकांत अनुचित मानना भूल है।

पर धर्म के खोजी की कठिनाई ऊपर की बात से और बढ़ जाती है। यह धर्म भी सच, वह धर्म भी सच। पर दोनों एक तो हैं नहीं। यह देख कर वह झमले में हो सकता है। उधर से पुकार सुनता है, तुलनात्मक अध्ययन की। तब वह क्या तुलनात्मक अध्ययन में पड़े और तय करने चले कि कौन इसमें कम श्रेष्ठ है ? और कौन अधिक ?

मैं मानता हूं कि जिज्ञासु इस तुलनात्मक अध्ययन के

चक्कर मे पड़ा कि खोया गया। उसे फिर राह नहीं मिलेगी। और वह शब्द के भूल भुलैये मे भटक रहेगा। क्योंकि फैसला करने की बुद्धि से धर्मों मे तुलना करने चलना ही एक अहकार है और गलत है।

अरे भाइ, धर्म कहीं बाहर खोज मिलेगा? उसकी गुहा तो भीतर है। भीतर भाको तो वहां से एक धीमी लौ का प्रकाश होगा। आत्मा की आवाज सब के भीतर है। उसे सुनते चलो। उसी से बाहरी उलझन कटेगी।

पर अधीर कहता है कि 'अजी कहा है वह आत्मा की आवाज? हम सुनते है और कुछ नहीं सुनाइ देता।' वह भाई भी गलत नहीं कहता। पर उसे अधीरता पहले छोड़नी होगी। बात यह है कि हमारे अन्दर तरह तरह की कामनाओ का इतना कोलाहल मचा रहता है कि वह धीमी आवाज कैसे सुनाइ दे? वह तो है, लेकिन उसे सुनने के लिए शोर की तरफ से कान बन्द करने होगे। तरह तरह के वाद-विवाद, शास्त्रार्थ चल रहे हैं। उन सब की तरफ बहरे बन जाना होगा। जो बाहर दीख रहा है उस पर आँख मूँद लेनी होगी। तब जो नहीं सुनता वह सुनाइ देगा और नहीं दीखता, वह दिखाइ देगा। बस, उसको राह जानिये। उसके पीछे जो भी छोड़ना पड़े, छोड़ दीजिये। जहाँ वह ले चले, चले चलिए। ऐसे आप देखेंगे कि आप सही धर्म पालन

कर रहे हैं। और धर्म के नाम पर जो जजाल और दुकान-दारी का पसारा फैला है, उससे बच सके हैं।

पर दुनियादार कहेगा कि आप कहाँ की आत्मा की बात करते हो ? आई मौत कि सब उड जाता है। किसने भला आत्मा देखी है ? जन्मा है सो मरगा। मर कर क्या छोड़ जायगा ? आत्मा तो वह छोड नहीं जाता, पर धन-दौलत उसकी छूट जाती है। धर्म की कमाई कहाँ टीकती है ? धन की कमाई आदमी के मरने बाद भी टिकती है। एक ने जीते-जी पाँच हवेलियाँ बनायी। वे पाँच सौ वर्ष तक रहीं तो तब तक उसकी याद रहेगी। उसस नाती-पोतों और पड़-पोतों का भला होगा। यह टिकने वाली कमाई है। इसके सामने आत्मा की बात हवाई बात नहीं तो भला क्या है ?

ठीक भी है। आते हुए हावडा पुल से आना हुआ कि पास एक बहुत ऊँचा क्रेन लगा। भला उसकी ताकत का क्या पूछना ? सैकडों मन बोझ को गेंद की तरह यहाँ से वहाँ फेंक दे। ऊँचा ऐसा कि आस्मान की छाती में मुक्का मारता हो। आदमी की उसके आगे क्या हस्ती ? फिर लड़ाई में हिटलर के बम याद कीजिए। एक एक ऐसा कि हजारों को तहस नहस कर दे और छन में भरी बस्ती वीरान कर दे। यह दुर्दान्त वास्तविकता है। इसके आगे आदमी चींटी

जितना भी नहीं। फिर क्या धर्म और क्या आत्मा? उन ठोस लोह की विकराल वास्तविकता के आगे क्या वह निरा सामयवाली ही नहीं है?

एक बार तो बिन सोचे मन सहमता है। मालूम होता है कि भीमाकार जो लोहित रुद्र सामने है, वह तो है, और जो निराकार धर्म तत्व की बात है, वह नहीं है। पर, एक क्षण को मन सहम भी जाता हो, लेकिन तभी अन्दर से प्रतीति आती है कि उस दैत्याकार क्रेन के पीठ चाबी घुमाता हुआ साढ़े तीन हाथ का एक आदमी बैठा है। क्रेन कितना भी बड़ा हो, वह उस नन्हें सचेतन आदमी के हाथ में जड़ की भांति निष्क्रिय है। इसी तरह बम कितना भी नाशक हो, पर हिटलर उसके पीछे है, तभी उसकी शक्ति विनाश कर पाती है। अर्थात् जड़ की ठोस भीमता के पीछे चैतन्य की अव्यक्त सत्ता ही काम कर रही है।

और कहां है आज एतिहासिक काल के महाकाय जीव जन्तु? और साम्राज्य? और दुर्ग? और सत्ताएं? आदमी ने अपने अहंकार में जो कुछ खड़ा किया, वह सब एक दिन खंडहर बन रहा। पर बुद्ध और महावीर को हुए हजारों वर्ष हो गये और ईसा को आज यह बीसवीं सदी है। काल के इस गहन पटल को भेद कर इन महापुरुषों का सन्देश आज जीवित है और उसके भीतर से वे स्वयम् अमर हैं। वहां

है सम्राटों का अतुल वैभव, महल-अटारी, कि जिनकी उम्र तुम ज्यादा बताते हो ? वह सब कुछ धूल में मिल गया है। काल ने उसे खण्ड डाला है। फिर भी इस काल पर विजयी बना हुआ और मृत्यु के बीच अमृत बना हुआ 'प्रेम का सन्देश' सदियों के अन्तराल से आज भी हम सुन पड़ता है।

इसलिये धन की कमाई नहीं रहती, धर्म की ही कमाई रहती है। पर वह कमाई दीखती नहीं। धरती में का बीज भी कहीं दीखता है ? पर अधीर उसका फल चाहता है। किन्तु उसका तत्कालीन प्रभाव नहीं भी नजर आता। अनातोले फ्रान्स की एक कहानी है। उसमें दिखाया है कि ईसा जब जिन्दा था तो वह एक आवारा उठाईगीरे के मानिन्द समझा जाता था। गरूर में मस्त अपने को ऊँचा मानने वाले लोग हिकारत से उसे देखते थे। लेकिन लोगों की घृणा से ईसा को क्या, उसने तो अपने को प्रेम से भरा रखा। वह फाँसी चढ़ गया, पर फाँसी चढ़ाने वालों के लिए उसका मन करुणा से भरा रहा। आज फाँसी देने वाले वे अफसर कहाँ हैं ? कौन उनको पूछता है ? और ईसा को आज अवतार मान कर करोड़ों लोग गद्गद हो जाते हैं। यह धर्म की महिमा है या किस की ? धर्म का बीज इतना छोटा है कि उसको देखने को ऊपर की नहीं भीतर की आँख चाहिये। और

सुख का रास्ता तजा, दुख का मार्ग पकडा। दूसरों को सता कर खुद आराम पाने से ठोक उल्टी रीति उन्होंने अपनायी। यह रीति खुद दुख उठाकर दूसरे का कष्ट हरने की यानी अहिंसा की थी। हम देखेंगे तो पायेंगे कि स्वेच्छापूर्वक पर हित मे दुख उठाने का रास्ता ही सुख देता है। महावीर के तपस्वी जीवन का नहीं तो दूसरा क्या सार है ?

धर्म तत्व यह है कि अहम्-भाव छोडो, समभावी बनो। परिग्रह का सचय मन मे लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नहीं है, उनमे ममता परिग्रह है। समाज मे आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी जगह खाने को कौर नहीं। ऐसी स्थिति मे अहिंसा कहाँ ? धर्म कहाँ ? कुछ लोगों की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगों मे धन का समान वितरण चाहता है। गांधीजी अहिंसक हैं, पर समाजवादी तो अहिंसक नहीं हैं। इससे जब गांधीजी कहते हैं कि ममता छोडो, तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यों रखने वाला है। वह कहेगा कि तुमसे ममता नहीं छूटती है तो मेरे तो हाथ हैं, मैं तुम्हारा धन छीन लेता हूँ। आप सच मानिए कि हमारे आसपास भूखे लोगों की भूख मंडरा रही हो तो उसके बीच महल के बंद कमरे मे धर्म का पालन नहीं हो सकता। धर्म कहता है कि धनिक अपने

धन का रक्षक ही अपने को समझे, उस पर अपना स्वत्व मात्र नहीं माने। कोई जरूरत नहीं है कि हम चाहें कि धनिक धनिक न रहे। पर, धनिक को तो अपने को गरीब ही मानना चाहिए। जिसके पास सोने का जितना बोझ हो, उसकी आत्मा उतनी ही दबी है। पर उस सोने से अपनी आत्मा को आप अलग रखें, यानी ममता छोड़ दें, तो सोना आपका कुछ न बिगाड़ सकेगा। न फिर उससे दूसरे का अलाभ होगा। और तब फिर वह सोना जगत का हित करेगा, क्योंकि धर्म के काम में लगेगा। दूर क्यों जाइये, अपने ही पहले के श्रीमन्तों को देखिए न। कोई भला उन्हें देख कर कह सकता था कि ये कोट्याधीश हैं। सादा रहन-सहन, वही चाल-ढाल। पर आज की तो आनबान ही निराली है। जैसे धन तन पर उछला आता हो। दिखावा अब बढ़ रहा है। अरे भाई, तुम्हारे पास धन है तो यह कौन बड़ाई की बात है। बड़ाई की बात तो त्याग में है। अव्वल तो त्याग का दिखावा भी बुरा है। पर कोई धन का दिखावा करने बैठे तो यह महा मूर्खता के सिवा और क्या हो सकता है? सच्चा आदमी यानी सच्चा धार्मिक अपने को अकिंचन मानेगा। दिखावे पर वह कौड़ी नहीं खर्च करेगा, अपरिग्रही होगा और धन को परोपकार के निमित्त ही मानेगा।

भाइयो! मैंने आपका इतना समय लिया। अब जितनी

जमीन हम चले हैं, उस पर फिर पीठ फिर कर एक निगाह डाल लें।

पहली बात कि धर्म नाम की वस्तु शुद्ध रूप में नहीं मिलती। बाहर खोजने चलने हैं तो वह विशेषण के साथ मिलती है। विशेषण अपने आप में मूल्यवान नहीं हैं। वह तो पात्र की तरह है। धर्म का उनमें रस है तो ठीक, नहीं तो बेकार।

दूसरी बात कि धर्म का मूल्य आत्मा में है। इन्द्रियों को वश करना है और आत्मरूप होते जाना है। इस मार्ग पर अपने पराये की बुद्धि को मिटाना होगा। दूसरों में आत्मवत् वृत्ति रखनी होगी।

तीसरी बात यह कि अहंकार धर्म का शत्रु है। और सेवा धार्मिक जीवन का लक्षण है।

चौथी बात जिस पर कि काफी ज़ोर भी कम होगा यह कि धर्म बोलने जानने की चीज़ नहीं है। वह तो आचरण की वस्तु है। तर्क पूर्वक धर्म तत्व को छान डालने की स्पर्धा आदमी को नहीं करनी चाहिए। सूरज को आँख गड़ा गड़ा कर देखो तो क्या नतीजा होगा ? उसमें आँख ही अंधी होगी। इसी तरह आत्मा परमात्मा को भी बहुत तर्क वितर्क के जाल डाल कर पकड़ने का आग्रह ठीक नहीं। वह तो व्यसन हो जाता है। उसमें पड़ कर बुद्धि विलासिनी और

निर्मल होती है। परम तत्व को जान कर भला कोई चुका सका है कि हम चुका दगे ? फिर उस पर वाद-विवाद क्यों ? शास्त्रार्थ क्यों ? घन्टो उलझी चर्चा क्यों ? उचित है कि जितना हम स पचे उतना बौद्धिक ज्ञान हम ले ल। बौद्धिक ज्ञान तो अपन आप में कोई साध्य होता नहीं है। बारीकी स दख तो ज्ञाता और ज्ञेय की पृथकता पर ही वह ज्ञान सम्भव होता है। पर पृथकता तो झूठ है। इसम ऐसा ज्ञान भी एकान्त सच कैसे हो सकता है ? धर्मानुभव की स्थिति वह है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हैं। अथात जहाँ ज्ञान रह, उतना भी अन्तर उनमे नहीं है। ज्ञान वहाँ घुल रहता है जैस नोन की गांठ पानी मे गल रहती है।

यह सुन कर बुद्धिवादी (Rationalist) मुझे सवालों से तोप सकता है। पर सवाल की कहीं शान्ति हुई है ? शका शांत होगी तो बस श्रद्धा मे। जो अनुभव की बात है वह बहस की नहीं है। और समझ कर किसी ने सत्य का पार नहीं पाया है। इसलिए धर्म के विषय मे हमें नम्र और जिज्ञासु हो कर चलना चाहिए। पांचवी बात यह कि धर्म से ऐसे व्यवहार हमें नहीं करन चाहिए जैस धन से करत हैं। धन से हमारी ग़रज़ चिपटी रहती है। पर धर्म से बदला हम नहीं चाह सकत। यह तो सौद जैसी बात हो जायगी। धन क मोल जिस तरह चीजें खरीदी जाती हैं, वैस धर्म क बदले भी

हम स्वर्ग और पुण्य खरीदना चाहें तो यह गल्ती है। धर्म तो हमें अपनी ही असलियत देता है। इससे बड़ा और दूसरा लाभ क्या होगा? यह धर्म को खजाना है कि हम उसके ज़रिये ऐश्वर्य बनाना चाहें या अपना प्रभाव बढ़ाना चाहें। यह तो हीरे से कौडी का काम लेना जैसा हो जायगा। महातत्व की उपलब्धि से क्या हम क्षुद्र प्रयोजन साधने की बात सोचें? यह तो वैसे ही हुआ जैसे ज्वाला-मुखी के विस्फोट पर हम अपनी चावल की हाँडी पकाना चाहें। ऐसे हाँडी भी जल जायगी, हम भी जल जायेंगे। इसलिए धर्म के उपयोग के सम्बन्ध में हम सावधान रहें। और लौकिक प्रयोजन साधन की इच्छा हम तज दें। ऐसी इच्छा तो हमारी कंगाली का सबूत है और अज्ञान का।

कवि ने कहा है,—"कौडी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यों छोड दिया?" धर्म वह लाल रतन ही है। पर मुट्ठी कौडी पर कसी है, तो लाल रतन कैसे हाथ लगेगा? इसलिए लाल रतन लेने के लिए कौडी पर से मुट्ठी छोड देनी होगी। आप लोगों में बडी बडी सम्पत्तियों के स्वामी होंगे। धर्म पाना चाहते हैं तो उस पर से आप को मुट्ठी छोड देनी होगी। मुट्ठी छोडने से वस्तु छूटती है, यह भ्रम गलत है। पर दोनों हाथ लाडू का भरोसा मैं आप को देने वाला नहीं हू। या तो अहम् गर्व रखिये, या धर्म रखिये। धर्म रख कर आप

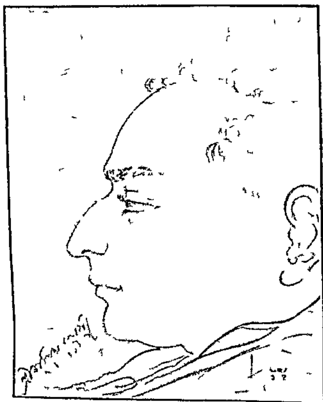
अपने लिए नहीं रह जाते, सब के लिए हो जाते है। उसके लिए अन्दर की वासनाओं को, स्पर्धा-ईर्ष्या को, मताग्रहों को, गिरोहबन्दी को, सबको छोड देना होगा। लेकिन छोडने से आप घाटे मे न रहेगे। क्योंकि छोड कर वह वस्तु आपको मिलेगी जिसकी कीमत अकूत है। वह है आपकी 'आत्मा'। अपने को खो कर सारे जगत का राज पाया तो क्या पाया ? क्योंकि तब वह धूल बराबर भी नहीं है।

विश्व-सस्कृति मे जेन धर्म का स्थान*

[वक्ता—डॉक्टर कालीदास नाग एम० ए०, डी-लिट० (पेरिस)]

जैन धर्म और जैन सस्कृति क विकास प पीछ शताब्दियो का इतिहास छिपा पडा है। श्री ऋषभदेव से लेकर बाइसव अर्हत श्री नमिनाथ तक महान तीर्थंकरों की पौराणिक परम्परा को छोड भी द तो भी हम अनुमानत इसवी सन मे ८७२ वर्ष पूर्व के एतिहासिक काल को दखत हैं, जब तईसवें अर्हत श्री भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ, जिन्होंने तीस वर्ष की

* वक्ता न अपने भाषण का साराश अंग्रेजी में भेजा था उसका हिन्दी अनुवाद ही यहा दिया गया है। —मत्री



डॉ० कालीदास नाग

[चित्रकार—इन्द्र दूगड़

आयु में घर-गृहस्थी त्याग दी और जिनको अनुमानतः ईसवी सन् से ७७२ वर्ष पूर्व बिहार के अन्तर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ पर मोक्ष प्राप्त हुआ। भगवान पार्श्वनाथ ने जिस निगन्थ सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसमें कालगति से उत्पन्न हुए न्यायों का सुधार श्री वर्धमान महावीर ने किया। महावीर अपनी आध्यात्मिक विजय के कारण 'जिन' अर्थात् विजयी कहलाते हैं। अतएव जैन धर्म, अर्थात् उन लोगों का धर्म जिन्होंने अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है, एक महान धर्म था जिसका आधार आध्यात्मिक शुद्धि और विकास था। इससे यह मालूम हुआ कि महावीर किसी धर्म के संस्थापक नहीं वरिक एक प्राचीन धर्म के सुधारक थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में महावीर गौतम बुद्ध के कुछ पहले उत्पन्न हुए उनके समकालीन माने जाते हैं। जैन साहित्य में कई स्थानों पर गौतम बुद्ध के लिए यह बतलाया गया है कि वे महावीर के शिष्य गायम नाम से प्रसिद्ध थे। बाद में उत्पन्न हुए पक्षपात और मतभेद के कारण बौद्ध लेखकों ने निगन्थ नातपुत्त (महावीर) को बुद्ध का प्रतिपक्षी बनाया। वास्तव में दोनों के दृष्टिकोणों में फर्क था भी। यही कारण है कि बौद्ध धर्म का दुनिया के बड़े भाग में प्रसार हुआ किन्तु जैन धर्म एक भारतीय राष्ट्रीय धर्म ही रहा। किन्तु फिर भी जैसा डाक्टर विंटरनिज ने कहा है, दर्शन शास्त्र की दृष्टि से जैन धर्म भी

एक अर्थ में विश्व धर्म है। वह अर्थ यह है कि जैन धर्म न केवल सब जातियों और सब श्रेणियों के लोगों के लिए ही है बल्कि यह तो जानवरों, देवताओं और पातालवासियों के लिए भी है। विश्वात्मक सहानुभूति सहित यह व्यापक दृष्टि और बौद्धों का मैत्री का सिद्धान्त दोनों बातें जैन धर्म में अहिंसा के आध्यात्मिक सिद्धांत द्वारा मौजूद हैं। इसलिए जैन धर्म और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन बहुत पहले से ही किया जाना चाहिये था। जो ईसवी सन् से पहले के १००० वर्षों में हिन्दुस्तान में हुए आध्यात्मिक सुधार के आंदोलनों को जो समझना चाहते हैं उनके लिए इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है। वह समय एशिया भर में उस राजनैतिक और सामाजिक उलट-फेर का था, उसी समय एशिया में कई महान द्रष्टा और धर्म-स्थापक उत्पन्न हुए जैसे ईरान में जरथुस्त्र और चीन में लाओत्जे और कनफ्यूसियस।

जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म के सम्बन्ध के बारे में हम देखते हैं कि सारा का सारा जैन साहित्य ब्राह्मण संस्कृति की ओर बौद्ध लेखकों के विचारों की अपेक्षा ज्यादा झुका हुआ है। डाक्टर विंटरनित्ज़, प्रो० जैकोबी और दूसरे कई विद्वानों ने इस बात को जोरदार शब्दों में स्वीकार किया है कि जैन लेखकों ने भारतीय साहित्य को सम्पन्न बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण हिस्सा

अदा किया है। कहा गया है कि "भारतीय साहित्य का शायद ही कोई अंग बचा हो जिसमें जैनियों का अत्यन्त विशिष्ट स्थान न रहा हो।" इतिहास और वृत्त, काव्य और आख्यान, कथा और नाटक, स्तुति और जीवन-चरित्र, व्याकरण और कोष और इतना ही क्यों, विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्य में भी जैन लेखकों की संख्या कम नहीं है। भद्रबाहु, कुंद कुंद, जिनसेन, हेमचंद्र, हरिभद्र और अन्य प्राचीन तथा मध्यकालीन लेखकों ने आधुनिक भारतवासियों के लिए एक बड़ी सांस्कृतिक सम्पत्ति जमा कर के रख दी। इस बात का प्रतिपादन तपगच्छ के सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, लेखक और सुधारक श्री यशोविजयजी ने किया है, जिनका समय सन् (१६२४-८८) के बीच का है। ईसवी सन् से एक शताब्दी बाद जैनियों में दिगम्बर और श्वताम्बर जो दो फिर्के हो गये, उनको एक करने का गौरवपूर्ण प्रयत्न इस महापुरुष ने किया था।

इस महान साहित्य और इसकी आध्यात्मिक सामग्री की यत्नपूर्वक रक्षा करना मात्र दिगम्बरियों का, श्वताम्बरियों का, स्थानकवासियों का, तेरापंथियों या किसी दूसरे सम्प्रदाय के लोगों का ही कर्तव्य नहीं है, बल्कि यह तो भारतीय संस्कृति और ज्ञान के सभी प्रेमियों का कर्तव्य है। जैनियों का सैद्धांतिक साहित्य आज भी केवल कुछ विशेषज्ञों और विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों तक ही सीमित है। और सिद्धान्त-

प्रतिपादन के अलावा जो दूसरा विशाल साहित्य है उसका भी आज तक पूर्ण रीति से अध्ययन नहीं किया गया है। हिन्दू तत्वज्ञान के कितने विद्यार्थी यह जानने की परवाह भी करते हैं कि जैनियों ने न्याय और वैशेषिक दर्शनों के विकास में कितना योग दिया है? कितने हिन्दू इस बात को जानते हैं कि रामायण और महाभारत की कथाओं, एवं पुराण और कृष्ण की कहानियों पर जैन लेखकों ने भी कितना लिखा है। भारतीय कला के कितने से विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन अजन्ता काल की चित्रकला और मध्य-युग की राजपूत कला के बीच जैन चित्रकला कितना सुन्दर यौगिक है। जैन लेखकों ने भारत की कई प्रमुख भाषाओं जैसे उत्तर में गुजराती, मारवाड़ी, और हिन्दी तथा दक्षिण में तामिल, तेलगू और कनाड़ी आदि को साहित्य सम्पन्न करने में कितनी सहायता दी है। इन भाषाओं में आज भी जैन धर्म सम्बन्धी कितने गम्भीर और विवेचन पूर्ण प्रबन्ध छपते हैं किन्तु अभी तक किसी भी जैन संस्था ने इस समस्त सामग्री की सर्व साधारण के लिए एक बृहद् सूची बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया। लगभग सन् १८७३-७८ में हस्तलिखित जैन ग्रन्थों का एक बड़ा संकलन बर्लिन की रायल लाइब्रेरी के लिए जार्ज बूलर ने किया था। और जैन साहित्य के विस्तृत विवरण का भी पहला प्रयत्न सन् १८८३-८५ के आसपास प्रोफेसर ए० वेबर ने किया था। सन् १९०६ और

१९०८ के बीच में पेरिस के विद्वान प्रो० ए० गुरीनोट महोदय ने अपनी 'Studies on Jaina Bibliography' प्रकाशित की थी। उसमें उसके बाद कोई परिवर्तन नहीं किया गया जब कि गत तीस वर्षों में उत्तर और दक्षिण भारत में नये हस्तलिखित जैन ग्रंथों और शिला लेखों के ढेर के ढेर मिले हैं। हाल ही में दक्षिण भारत में जैन धर्म की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हो रहा है। डा० एस० एच० कृष्ण ने 'श्रवण बेलगोला में गोमटेश्वर के मस्तकाभिषेक' पर खोजपूर्ण विवेचन किया है। डा० बी० ए० सालतोर और श्री एस० एस० रामस्वामी आयंगर ने भी दक्षिण भारतीय जैन धर्म के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान किया है। (देखो—जैन एन्टीक्वेरी, मार्च १९४०)। इण्डियन म्यूजियम के क्यूरेटर श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने अपनी सुन्दर सचित्र पुस्तक, जिसका नाम "तिरुप्परुत्ती कुनरम और उसके मन्दिर" में दक्षिण भारत के जैन स्मारकों के बारे में बहुत सुन्दर सामग्री दी है। डा० सी० मीनाक्षी ने कई जैन गुफाओं और जैन चित्रों का पता लगाया है जिनमें तीर्थंकरों के जीवन की सामग्री है। खास तौर से पुदुकोटा स्टेट अन्तर्गत सित्तन्न वासल नाम में यह स्थान हुई है।

अतएव जैन धर्म, जैन तत्वज्ञान और जैन संस्कृति के गम्भीर और सुव्यवस्थित अध्ययन के मार्ग में जो अनेक समस्याएं पड़ी हैं, उनको सुलझाने के बारे में मैं इस पवित्र सप्ताह

मे यहाँ उपस्थित जैन भाइयों क सम्मुख कुछ नियात्मक सुझाव पश करता हू—

(१) एक छोटी सी समिति का निमाण किया जाय जिसका उद्देश्य भारतवष क उत्तर और दक्षिण क जैन समाजों के अग्रगण्य नताओं को सम्मिलित करन की दृष्टि स एक अखिल भारतवर्षीय जैन काग्रेस या कान्फरेंस बुलान की भूमिका तैयार करना हो।

(२) कलकत्ता म एक जैन युवक सघ बनाया जाय जिसम सभी खास खास सम्प्रदायों क प्रतिनिधि शामिल किय जायँ। इस सघ को यह कार्य सौंपा जाय कि अखिल भारतवर्षीय जैन काग्रेस म प्रतिनिधित्व करन वाली सप्रदायों और सस्थाओं क विषय म प्रारम्भिक रिपोर्ट और नोट तैयार कर।

(३) अलग अलग जगहो पर रहने वाल जैन कार्यकर्ताओ और सस्थाओ क साथ सम्पर्क बनाय रखन और बढात रहने की दृष्टि से कलकत्ता से हिन्दी और अग्रजी म एक मासिक सूचना-पत्र निकाला जाय।

(४) जनता को और खासकर कलकत्ता यूनिवर्सिटी क रिसर्च वाले विद्यार्थियो को जैन धर्म और जैन सस्कृति क सबध म पुस्तक और लेख लिखने का प्रोत्साहन दन क लिए कलकत्ता में एक छोटा पुस्तकालय और वाचनालय खोला जाय।

(५) अखिल भारतीय आधार पर प्रमुख जैन तीर्थों, मन्दिरों और दूसरे ऐतिहासिक भग्नावशेषों की एक सूची तैयार की जाय और उनके सम्बन्ध में लोकप्रिय व्याख्यानों का प्रबन्ध किया जाय। हो सके, तो लैन्टन स्लाइड और चित्रों का भी प्रबन्ध किया जाय।

(६) जैन कला और आर्कियोलाजी का एक म्यूजियम भी खोला जाय जो किसी भी सार्वजनिक स्थान में हो सकता है, या उसके लिए एक नया भवन बनाया जा सकता है, जहाँ जैन पुस्तकालय और सूचना-विभाग भी रखा जा सकेगा। इस म्यूजियम के तत्वावधान में समय समय पर हस्तलिखित जैन ग्रन्थों, चित्रों और दूसरी कलापूर्ण वस्तुओं का प्रदर्शन भी किया जा सकता है।

(७) एक केन्द्रीय जैन अन्वेषण-कोष कायम किया जाय जो निम्न जरूरतों को पूरा करे—

(अ) कुछ योग्य रिसर्च विद्वानों को मासिक छात्रवृति दी जाय।

(ब) सर्व साधारण की समझ में आ जाय, ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय। इनके द्वारा जैन धर्म के सिद्धांतों का प्रचार किया जाय और खासकर सारी मानवजाति के लिए अहिंसा का अमर सन्देश दिया जाय।

(स) कलकत्ते के एक शान्त भाग में अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन कायम किया जाय, जहां बंगाल के बाहर से और विदेशों से खास तौर पर जैन धर्म और संस्कृति का ज्ञान हासिल करने के लिए आने वाले प्रसिद्ध विद्वानों को स्वागत पूर्वक ठहराया जाय। इस प्रकार का आतिथ्य केन्द्र जैन समाज की शोभा बढ़ायेगा और भारतवर्ष के जैनियों तथा विदेशों के जैन-धर्म प्रेमियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ावेगा।

अनुवादक—श्री भंवरलाल सिंघी

भगवान् महावीर की अहिंसा

[वक्ता—पंडित दरबारीलालजी 'सत्यभक्त', वर्धा]

— ० १ —

अहिंसा आद्य धर्म है और मूल धर्म भी है। आद्य इसलिये कि मनुष्य ने या प्राणी ने सबसे पहिले इस ही सीखा और मूल इसलिये कि धर्म के जो दूसरे आचार हैं, वे सब इसीलिये धर्म कहलाते हैं कि उनके मूल में अहिंसा है। सच पूछा जाय तो अहिंसा ही मनुष्यत्व का चिह्न है।

यह अवश्य शर्म की बात है कि मनुष्यों में जहाँ अहिंसा के श्रेष्ठ उपासक हैं, वहाँ सामान्यतः मनुष्य ही सब से क्रूर प्राणी बन गया है। यों तो हम क्रूर पशुओं में शेर, बाघ आदि प्राणियों

को त्याग करते हैं पर मनुष्य की क्रूरता के आगे इनकी क्रूरता पानी भरती। शेर आदि की क्रूरता में न तो इतना असंयम है और न इतना मूर्खता जितना मनुष्य की क्रूरता में है। शेर आदि तभी शिकार करते हैं, जब वे भूखे होते हैं। पेट भरने पर गुफा में पड़े रहते हैं। लेकिन मनुष्य का पेट कभी भरता ही नहीं, लखपति, करोड़पति होने पर भी वह दुनिया को लूटता ही रहना चाहता है। राजा बनने पर सम्राट् होना चाहता है सम्राट् बनने पर दूसरे सम्राटों को मिटा देना चाहता है। अगर सारी पृथ्वी उसके पेट में आ जाय तो यह ज्ञान का नायक में सूर्य, चन्द्र, तारों की तरफ भी नजर दौड़ायगा। बेचारे शेर का क्या दम है जो इस भयंकर प्राणी मनुष्य की बराबरी करे ?

क्रूरतापूर्ण मूर्खता में भी शेर मनुष्य की बराबरी नहीं कर सकता। शेर सब का शिकार करेगा पर अपनी जाति के प्राणी का अर्थात् दूसरे शेर का शिकार न करेगा, पर मनुष्य तो मनुष्य का शिकार करता है, और उसे नाना तरह से चूसता है। नाना तरह से लाखों आदमियों को मार डालता है, धर्म के नाम पर भी उन्हें नहीं छोड़ता। ये सब क्रूरताएँ और मूर्खताएँ शेर में कहाँ हैं ? इसलिये शायद जैन शास्त्रों का मत है कि शेर में अधिक से अधिक पांचवें नरक तक जाने की योग्यता है जब कि मनुष्य में सातवें नरक तक की। मच्छ में भी यह योग्यता मानी गई है पर उसमें मनुष्य के साथ एक तरह की

समानता है। मनुष्य मनुष्य का शिकार करता है, मच्छ मच्छ का शिकार करता है।

कुछ भी हो, पर इसमें शक नहीं कि मनुष्य काफी क्रूर प्राणी है। फिर भी वह पशुओं की अपेक्षा संयम में अधिक बढ़-चढ़ गया है। दूसरे के अधिकारों की परवाह करना मनुष्य में ही अधिक से अधिक सम्भव है और बहुत से मनुष्य इस तरफ बढ़े भी हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यजाति के सौभाग्य से उसमें अनेक महात्मा पैदा होते रहे हैं जो पशुता और बर्बरता से छूटकर दूसरे मनुष्यों को भी छुड़ाते रहे हैं। उन्होंने खुद जी कर भी दूसरों को जीने देने का पाठ पढ़ाया है। उस पाठ को जीवन में उतार कर बताया है। ऐसे महात्माओं में जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी का नाम अधिक से अधिक चमकता है।

महावीर स्वामी अहिंसा के महान् आचार्य हैं। इसीलिये जैन धर्म अहिंसा धर्म के नाम से कहा जाता है। पर अहिंसा के नाना रूप हैं। उन सब रूपों का समय समय पर जीवन में उपयोग भी किया जाता है। पर हर एक आदमी के जीवन में अहिंसा का कोई एक रूप इस प्रकार चमकने लगता है कि दर्शकों का दूसरे रूप की तरफ ध्यान भी नहीं जाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अहिंसा के किसी एक रूप की साधना महात्मा को करनी पड़ती है, इसलिये उसके अनुयायी समझने लगते हैं कि बस, इतनी ही अहिंसा है।

महावीर स्वामी ने अहिंसा के ऊँचे से ऊँचे रूप को जीवन में उतार कर बताया है पर अहिंसा को न तो उन्होंने अव्यवहार्य बना दिया, न किसी एकान्तवाद का समर्थन किया। वे अहिंसा के एक रूप पर खड़े होकर भी अङ्गुली से अहिंसा के सभी रूपों की तरफ इशारा करते रहे हैं, परन्तु उनको न समझ कर बहुत से मनुष्यों ने बड़ी गल्ती की है।

एक आदमी किसी को अङ्गुली से रास्ता बताये, पर रास्ता पूछने वाला अङ्गुली की तरफ रास्ता न देख कर यही देखे कि अङ्गुली में ही रास्ता है या जहाँ तक अङ्गुली है वहाँ तक रास्ता है तो जिस प्रकार वह भूल करेगा, उसी प्रकार हम महात्माओं के पथ निर्देश को समझने में भूल करते हैं। हमें उनका संकेत समझना चाहिये, पूरी दिशा पर नजर डालना चाहिये। जहाँ वे खड़े हैं, वहीं रास्ता देख कर न रह जाना चाहिये।

इसीलिये महावीर स्वामी ने पद-पद पर अनेकान्त पर जोर दिया है। उनका अहिंसा धर्म केवल बाह्याचार पर निर्भर नहीं है किन्तु बाह्याचार के भीतर रहने वाले परिणाम और उसके ध्येय पर निर्भर है।

जैनाचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इस विषय को बहुत ही साफ शब्दों में बतलाया है। उनका कहना है—

कोई मनुष्य हिंसा न करके भी हिंसा का फल पा लेता

है, कोई हिंसा करके भी हिंसा का फल नहीं पाता। किसी की हिंसा थोडी मालूम होती है, पर उसका फल बडा होता है, किसी की हिंसा महाहिंसा मालूम होती है, पर फल थोडा होता है। एक ही हिंसा किसी को तीव्र फल देती है, किसी को मन्द फल देती है। किसी की हिंसा हिंसाफल होती है, किसी की हिंसा अहिंसाफल होती है। हिंसा क्या है? हिंसा किसकी की जा रही है? हिंसक कौन है? उस का फल क्या होने वाला है?—इन सब बातो का अच्छी तरह तत्त्व दृष्टि से विचार करके हिंसा का त्याग करना चाहिये। *

इससे मालूम होता है कि जैन धर्म हिंसा-अहिंसा के चार भेद मानता है—अहिंसारूप अहिंसा, हिंसारूप अहिंसा, अहिंसारूप हिंसा और हिंसारूप हिंसा। पहिले दो भेद

* अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥ ५१॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥ ५२॥
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥ ५६॥
अवबुध्य हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥ ६०॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

अहिंसा व है जो कि कर्तव्य है, पिछले दो भेद हिंसा के हैं, इसलिये अकर्तव्य है—पाप है।

महावीर स्वामी की अहिंसा क्या है, वह कितनी व्यापक और व्यवहार्य है, इसका पता उपर्युक्त वाक्यों से मिल सकता है। संक्षेप म यह कहा जा सकता है कि हिंसा अहिंसा के विषय में जैन शास्त्रों में चार भङ्ग हैं—१—हिंसा अहिंसाफल, २—अहिंसा हिंसाफल, ३—अहिंसा अहिंसाफल, ४—हिंसा हिंसाफल।

हिंसा करके भी हम अहिंसा का फल मिल सकता है। न्याय-रक्षा क लिये कभी हिंसा करना पड़े तो वह अहिंसा ही समझना चाहिये क्योंकि न्याय की रक्षा न की जाय तो उससे कई गुणी हिंसा होती है। उस हिंसा को रोकने क कारण उस अल्प हिंसा को अहिंसा कहते हैं। भगवान राम अगर रावण का वध न करते तो घर घर रावण पैदा होते, घर घर की सीताओं का शील नष्ट होता, कुटुम्ब संस्था नष्ट हो जाती।

इसी प्रकार अहिंसा भी हिंसाफल हो जाती है। अन्याय और अन्यायी की रक्षा करने में अहिंसा हिंसा ही है।

यही कारण है कि जैन धर्म में जहाँ वायु और जल के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों का भी रक्षा करने का विधान है, वहाँ न्याय रक्षा या जन कल्याण के लिये मनुष्य वध तक के लिये

भी छूट है। जैन पुराणों को देखने से पता चलता है कि जैनियों के जितने महापुरुष हैं, जिन्हें शलाका पुरुष कहते हैं, वे सब प्रायः क्षत्रिय हैं, जिन्होंने बड़े बड़े युद्ध भी किये हैं पर अन्याय से किसी कीड़ी को मारने में भी जिन्हें पाप मालूम होता रहा है।

विधान के अनुसार भी जैन शास्त्रों में हिंसा के चार भेद किये गये हैं—सकल्पी, आरम्भी, उद्योगी, विरोधी। किसी निरपराध प्राणी को इरादापूर्वक मारना सकल्पी हिंसा है, जैसे कि मास-भक्षण के लिये या शिकार के लिये प्राणी का घात करना। रोटी पकाने या सफाई करने में जो आनुषगिक हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा है। खेती तथा अन्य उद्योगों में जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है। आत्म-रक्षण के लिये या न्याय-रक्षण के लिये युद्ध में जो हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा है।

इन चार हिंसाओं में सकल्पी हिंसा पर ही जोर दिया जाता है, बाकी तीन हिंसाएँ यथा-सम्भव कम करनी चाहिये, ऐसा ही विधान है। हा, महावीर स्वामी ने धर्म-प्रचार करने के लिये तथा लोगों में शान्ति, न्याय, नि स्पृहता का प्रचार करने के लिये जो साधु-सस्था खड़ी की थी, उसमें अवश्य ही आरम्भी, उद्योगी, विरोधी हिंसा के त्याग को भी असाधारण बताया गया था। और खुद महावीर स्वामी तो उससे भी

अधिक मात्रा में अहिंसा का पालन करते थे। इसका मतलब यह कि लोग समझ कि अहिंसा का पालन अधिक से अधिक कितना तक किया जा सकता है। पर वह तो एक तरह का रिकार्ड है। मोटर गाडी की तेज गति का रिकार्ड अगर दो सौ या तीन सौ मील हो तो भी कलकत्ते की सड़कों पर उसका उपयोग नहीं करने दिया जायगा। वह बिल्कुल खुली जगह के लिये है। महावीर स्वामी सरीखे उन्मुक्त महापुरुष के जीवन में जो रिकार्ड दिखाई दिया, वह समाज की व्यवस्था सम्बन्धी जिम्मेवारी को उठाने वाले शासक या नगर-रक्षकों में नहीं दिखाई दे सकता। इसी लिये जैन धर्म हर बात में द्रव्य-क्षेत्र काल—भाव पर जोर देता है। साधु के लिये जो अकर्तव्य हो सकता है, वह एक श्रावक या गृहस्थ के लिये कर्तव्य हो सकता है। एक जगह जो अकर्तव्य है, दूसरी जगह वही कर्तव्य हो सकता है। एक समय जो अकर्तव्य है, दूसरे समय वही कर्तव्य हो सकता है। दुर्भाव से जो अकर्तव्य है वही सद्भाव से कर्तव्य हो सकता है। इस प्रकार हर एक बात का, हर एक आचार का, या हिंसा अहिंसा का विचार अनेकान्त दृष्टि से जैन धर्म ने किया है। उसे अच्छी तरह समझ कर ही आप महावीर स्वामी की अहिंसा को समझ सकते हैं।

कोई भी महापुरुष हो, वह जीवन के सभी रूपों का चित्रण

अपने एक जीवन मे नहीं कर सकता। वह कोई एक रूप चुन लेता है और अपने अनुयाइयों को योग्यतानुसार और इच्छानुसार अच्छे रूप चुनने का अवसर मिले, विधान मे ऐसी गुंजाइश रखता है। महावीर स्वामी स्वय नग्न रहते थ पर इन्द्रभूति गौतम आदि अपने शिष्यो को कपड़े पहनने की भी उन्होंने गुंजाइश दे रक्खी थी। मोक्ष का मार्ग ऐसा प्रशस्त बतलाया था कि गृहस्थ-वेष तथा अन्य धर्मों की अनेक तरह की साधु-संस्थाओ के वेष से भी मोक्ष-मार्ग मे कोई बाधा न मानी थी। इस प्रकार अहिंसा की नाना साधनाओं मे से रुचि और परिस्थिति के अनुसार उन्होने कुछ साधनाएँ अपने लिये चुन लीं किन्तु विधान हर एक साधना का बनाया जिससे हर परिस्थिति मे अहिंसा का पालन किया जा सके और समाज मे सुव्यवस्था भी कायम रहे।

महावीर स्वामी की अनेकान्त रूप अहिंसा को समझने मे आज का जैन समाज भूला हुआ है। उसकी नजर सिर्फ द्रव्य हिंसा अर्थात बाहरी हिंसा-अहिंसा पर है। व अहिंसा की ओट मे छुपी हुइ हिंसा को और हिंसा की ओट मे छुपी हुइ अहिंसा को नहीं देखना चाहते। जैन समाज ही क्या, यह बीमारी इस देश भर मे कुछ कुछ बढ रही है। अहिंसा की ओट मे कायरता राज्य जमा रही है और वीरता पर हिंसा की छाप मारी जा रही है। महावीर स्वामी की अहिंसा ऐसी बहिर्मुखी

वह हमें मार कर पाप कर भी ले तो उसके अन्तस्तल में ऐसा दश होता रहे कि वह पाप का मार्ग सदा के लिये छोड़ दे। इसे सत्याग्रह भी कहते हैं।

ग—अपनी दृढ़ शक्ति और निर्भयता से दूसरे के दिल पर यह छाप डाली जाय कि वह अन्याय करके भी उसकी निष्फलता का अनुभव कर सके। जैसे किसी ने हमें तमाचा मारा और हमने दूसरा गाल आगे करके कहा—लीजिये, एक तमाचा और मारिये। यह वैफल्यदर्शनी साधना है।

मारने वाले ने तमाचा इसलिये मारा था कि पिटने वाला डर जायगा, झुक जायगा। पर जब वह देखता है कि तमाचे ने तो उसमें भय की अपेक्षा निर्भयता को ही जगाया है, तब तमाचे की विफलता से वह हट जाता है।

घ—पापी के साथ ऐसी सहानुभूति दिखाई जाय कि वह हमें अपना मित्र या उपकारी समझने लगे और हमारी महानुभूति, उदारता आदि के आगे लज्जित हो जाय। इस तरह पाप से विरक्त हो जाय, यह प्रेमदर्शनी साधना है।

ङ—पापी पर ऐसी उपेक्षा बताई जाय कि वह पाप की निष्फलता समझ सके, जिस प्रकार महावीर स्वामी उपसर्ग आने पर करते थे। यह उपेक्षणी साधना है।

च—उपदेश दे कर दूसरों को पाप के मार्ग से हटाया जाय, यह शिक्षणी साधना है।

छ—अन्याय या पाप को दूर करने के लिये या उसके फल से बचने बचाने के लिये अन्यायी या पापी को दंड दिया जाय, जैसा कि रामचन्द्रजी ने सम्राट् रावण को दिया था। यह संहारिणी साधना है।

अहिंसा की इन सात साधनाओं में किस साधना का स्थान कहाँ है, किसका उपयोग कब करना चाहिये, यही सब से बड़ी महत्त्व की बात है। इस विवेक के बिना, सत्य के बिना, अहिंसा का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। भगवान के बिना भगवती विधवा है, सत्य के बिना अहिंसा विधवा है।

अमुक समय या अमुक जगह के लिये किसी एक साधना पर जोर देना ठीक कहा जा सकता है पर दूसरी साधनाओं की उपयोगिता का विरोध न करना चाहिये।

ये जो सात साधनाएँ हैं, उनमें संहारिणी के सिवाय सभी साधनाएँ प्रबोधनी साधनाएं हैं। इन दोनों में विरोध नहीं है। जहाँ जिसकी जैसी उपयोगिता हो, वहाँ उसका वैसा उपयोग करना चाहिये।

५—प्राय सभी धर्मों ने अहिंसा पर जोर दिया है पर सभी ने प्रबोधनी और संहारिणी दोनों साधनाओं का विधान बताया है। अन्याय के विरोध के लिये या न्याय के रक्षण के लिये बाहरी हिंसा को भी स्थान दिया है।

६—अन्याय के विरोध में हम हिंसा करें या न करें पर

हिंसा करने का अर्थात् अहिंसा की सहारिणी साधना का हमें अधिकार अवश्य है। अहिंसा के नाम पर हमें उचित हिंसा करने का—सहारिणी साधना का अधिकार न खोना चाहिये।

७—हमारे दंड विधान में जीवन शुद्धि का अधिक से अधिक अवसर होना चाहिये। हिंसात्मक दंड द्वारा सिर्फ बदला लेने की भावना न हो। पर इसका भी खयाल रखना चाहिये कि अपराधी के मन से पाप भय नष्ट तो नहीं होता, साथ ही जिसका अपराध किया गया है उसके मन में असन्तोष तो नहीं रहता? ये दोनों ही सम्भव हैं, इसलिये दंड विधान में उचित हिंसा को स्थान रहना चाहिये। हाँ, हम यह कोशिश करें कि लोग अपराधी होने पर प्रायश्चित्त के समान स्वेच्छा से वह दंड सहने को तयार रहें। मतलब यह कि दंड विधान में से हिंसा को हटाने की जरूरत नहीं है किन्तु जनता को इतना तैयार करने की जरूरत है कि लोग उसे प्रायश्चित्त समझ कर स्वीकार करें।

८—हम चाहे प्रसाधनी साधना अर्थात अहिंसा रूप अहिंसा करते हों, चाहे सहारिणी साधना अर्थात् हिंसा रूप अहिंसा करते हों, हम दोनों में सतर्क और फलाफल विवेकी बनना चाहिये। अगर हम हिंसा रूप अहिंसा का पालन या आन्दोलन करते हों तो निम्न लिखित बातों का खयाल रखना चाहिये—

(क) न्याय कराने के नाम पर हम इतने उत्तेजित तो नहीं हैं कि जरूरत से ज्यादा हिंसा कर जायँ और चिरस्थायी वैर बसा लें।

(ख) प्रारम्भिक जाग्रति के लिये अहिंसा रूप आंदोलन ही विशेष उपयोगी होता है।

(ग) मूढ़ धर्मों से जहाँ मनुष्य विरोधी बन जाता है, वहाँ अहिंसा बहुत सार्थक होती है। अगर अपने दिल में प्रेम हो तो बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। धर्म-प्रचार में इसी नीति की जरूरत है। धर्मान्धता, जात्यन्धता आदि के कारण जहाँ झगड़े होते हैं, वहाँ भी अहिंसा रूप नीति को ही अधिक अपनाना पड़ता है। हाँ, जहाँ स्वार्थान्धता है, वहाँ कुछ हिंसा रूप नीति की भी आवश्यकता होती है।

(घ) ऐसे अवसर आते हैं, जब हम हिंसा रूप अहिंसा आवश्यक होने पर भी नहीं कर सकते। उस समय अहिंसा रूप अहिंसा का उपयोग करना - शान्त आन्दोलन करना उचित है। इसलिये अमुक समय तक हिंसा रूप आन्दोलन बन्द ही रखना चाहिये।

(ग) इसका खयाल रहे कि अपनी शक्ति बता कर बड़प्पन सिद्ध करने के लिये हिंसा न हो।

(घ) न्याय की मुख्यता है कि नहीं? ऐसा न हो कि महारिणी साधना के नाम पर हम स्वार्थ-साधना करने बैठ जायँ।

६—अहिंसा रूप अहिंसा अर्थात् प्रबोधनी साधना म भी हमें निम्न लिखित बातों का विचार करना चाहिये।

(क) भगवती अहिंसा क साम्राज्य के लिय तीन बातों की जरूरत है—

(१) रग, राष्ट्र, प्रान्त तथा अन्य जातीयताएँ नष्ट हो जाँय, धर्मान्धता भी न रह, जिसस अन्याय व्यक्ति तक सीमित रह, वग अन्यायी न बने।

(२) पहिला काम हो जाने पर जन्म से ही मनुष्य को एसा शिक्षण दिया जाय जिससे उस अन्याय से घृणा हो जाय, खास कर मार-पीट या खून-खराबी न कर।

(३) इस प्रकार समाज सुसस्कृत होन पर भी अगर कोई व्यक्ति अन्यायी हो जाय तो कहीं भी उसे पीठ ब न मिले। इस प्रकार समाज का न्यायी सगठन व्यक्ति को अत्याचार में विरत होन के लिये विवश करद।

ये तीन बातें जितनी मात्रा म सफल होगी, अहिंसा रूप व्यवस्था उतन ही अशो म सफल होगी। इनक बिना अगर हम अहिंसा रूप व्यवस्था करन जायँगे तो असफल होकर अहिंसा को बदनाम करायग।

(ग) व्यक्तिगत रूप म अहिंसा का पालन सरल है। एक

व्यक्ति अन्याय को सह कर अक्षुब्ध रह सकता है पर समाज में इतनी सहिष्णुता होना कठिन है। इसलिये वैयक्तिक साधना को सामाजिक साधना बनाने में खूब सतर्क रहना चाहिये। यह न भूलना चाहिये कि समाज के लिये न्याय-रक्षा मुख्य है, चाहे वह अहिंसा से हो या हिंसा से। जनता को न्याय की पहिली जरूरत है, अन्यायी के सुधार की पीछे। अन्यायी का सुधार भी वह न्याय-रक्षा के लिये चाहती है।

(ग) अहिंसा रूप कार्य में भी सफलता की वहीं अधिक सम्भावना रहती है, जहाँ उसके पीछे हिंसा-शक्ति का बल रहता है। वह बल जितना शिथिल होता है, अहिंसा उतनी ही असफल होती है क्योंकि कमजोर की अहिंसा को लोग अहिंसा नहीं समझते, उसे निर्बलता का परिणाम समझते हैं। हिंसा शक्ति के बिना अगर हमें कभी न्याय भी मिलता है तो वह दया कहलाता है, जिससे लेनेवाले में दयनीयता और देनेवाले में दुरभिमान पैदा होता है। इतना ही नहीं, वह अपनी स्वार्थ-वासना पर छल से परोपकार का आवरण डालता है, पर न्याय नहीं करता।

गाय हमें खेती के लिये बछड़े देती है, पीने को दूध देती है और अहिंसक रहती है। इससे हमारे दिल पर यह असर हुआ है कि हमने गो-वध छोड़ दिया है, गो माता कहने लगे हैं, कभी कभी उसकी पूजा भी कर देते हैं पर उसका चूसना

नहीं छोड सक हैं। अगर कोई हिंसा शक्ति रहित होकर अहिंसा से किसी का दिल पिघला द, तो इतना ही होगा कि उस अहिंसक की तारीफ की जायगी, मर न जाय इस लयाल स रक्षा भी होगी पर उसका चूसना न छोड़ा जायगा, वह स्वतन्त्र न बनाया जायगा।

अन्यायपूर्ण हिंसा स नर-संहार होता है और सभी की हानि होती है। इसलिये जब इस हिंसा स डर कर हिंसक लोग समझौता समझौता कर लत है, तब भी हिंसाशक्ति हीन अहिंसकों को व चूसत रहत है और कहत रहत हैं कि हम तो इन निर्बलों की रक्षा और भलाई करते हैं। इस प्रकार बलवानों म ही अहिंसा का साम्राज्य जमता है। हिंसाशक्ति हीन अहिंसकों म तो निबलता, कायरता, झुंझलाहट और फूट ही फैलती है अथवा व दयनीय बन कर कुछ टुकड ही पात हैं।

यद्यपि हिंसा-शक्ति वाले भी कुचल जा सकत हैं पर बहुत समय तक उनको ऐसा दबा कर नहीं रक्खा जा सकता, जिसस अन्यायी शोषण कर सक और आर्थिक लाभ में रह। शेरनी को हम मार सकत है, पिंजडे म कैद कर सकत हैं पर उस एसा नहीं दुह सकत कि हम आर्थिक लाभ में रह। उस कैद रखना हम भारी पड जाता है।

इस मुद्दे का सार यह है कि हम अधिक स अधिक अहिंसक बनना चाहिय पर उसकी सफलता क लिये, इस प्रभाव-

शाली बनाने के लिये अधिक से अधिक शक्तिशाली भी बनना चाहिये। संयम और शक्ति दोनों के समन्वय के बिना अहिंसा की विजय नहीं हो सकती। इसी भाव को बतलाने के लिये मैंने भगवती अहिंसा की मूर्त्ति के एक हाथ में शान्ति दिखलाई है और दूसरे हाथ में गदा देकर शक्ति बतलाई है। यह मूर्ति सत्याश्रम, वर्धा के धर्मालय में विराजमान है।

(घ) अगर कभी राजकीय अन्याय को हटाने के लिये अहिंसा-रूप क्रान्ति करना हो तो यह देख लेना चाहिये कि मेरे जनता में एक महात्मा के बराबर अटूट सहनशीलता है कि नहीं और वह दो-चार वर्ष भी टिक सकती है या नहीं? इस बात का भी ख्याल रखना चाहिये कि सामूहिक उत्साह की उम्र बहुत बड़ी नहीं होती, उसके ठंडे पड़ते ही आन्दोलन निष्फल कर दिया जाता है। इसलिये कार्य-क्रम ऐसा हो कि उसमें अधिक समय तक के उत्साह की आवश्यकता न रहे। अगर ऐसा कार्यक्रम अपने पास न हो या जनता की तैयारी न होने से वह अमल में न आ सकता हो या वह मानव-स्वभाव के विरुद्ध पड़ता हो तो अहिंसा रूप क्रान्ति में हाथ न डालना चाहिये या उस पर बहुत जोर न देना चाहिये। साधारणतः अहिंसा रूप आन्दोलन में देश की समस्त जनता का पूरा सहयोग चाहिये। अगर सौ में

दस आदमी भी हमार विरोधी हों या पीडक के साथ सह योग करने को राजी हों तो भी पीडक का अन्याय चालू रह सकता है। नब्बे का असहयोग निरर्थक जा सकता है। हिंसा रूप आन्दोलन में सौ में दस का भी साथ हो तो क्रांति सफल हो सकती है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि हिंसा का शस्त्र सरल है, बहुजन उसका सरलता से उपयोग कर सकते हैं। अहिंसा का शस्त्र महात्मा ही चला सकते हैं, उसके लिये विशाल प्रेम चाहिये। साधारण लोगों में मोह तो होता है जिसका कुटुम्बी और मित्रों में उपयोग किया जाता है, पर प्रेम नहीं होता। मारते मारते मनुष्य बहुत कुछ सहन कर जाता है पर शक्ति रहते हुए भी बिना मारे सहन कर सकना—वह भी अन्यायी का अन्याय, यह हर एक के वश की बात नहीं है। अहिंसा रूप आन्दोलन छेडने के पहिले हम इस मानव प्रकृति का भी खयाल रखना चाहिये।

(ड) अधिकांश मनुष्य ऐसे होते हैं कि हम अहिंसा रूप उन से उतना न्याय नहीं पा सकते जितना हिंसा रूप आन्दोलन में हार कर भी पा सकते हैं। अफ्रिका में बोअर हार कर भी जो पा सके, वह हिन्दुस्तानी लोग जीत कर भी नहीं पा सके या जो थोडे बहुत टुकड़े पा सके, वह भी सुरक्षित न रहने

पाय। इसलिये यह भी देखना चाहिये कि किस प्रकृति के लोगों से काम पड़ा है।

(च) अहिंसारूप आन्दोलन में यह सुभीता है कि उसमें सहन कम करना पड़ता है। हिंसारूप आन्दोलन में सहन ज्यादा करना पड़ता है पर बहुत बार ऐसा होता है कि हिंसारूप आन्दोलन में एक साथ बहुत सहने की अपेक्षा अहिंसारूप आन्दोलन में धीरे धीरे सहन की मात्रा बहुत हो जाती है। इतने पर भी फल नहीं के बराबर होता है। इसलिये फलाफल विचार कर के और सहन करने की मात्राओं का विचार कर के आन्दोलन के रूप का निश्चय करना चाहिये।

अहिंसा के व्यावहारिक रूप के विषय में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है और इस प्रकार की सूचनाएँ दी जा सकती हैं पर व्याख्यान में तो मैं सिर्फ दिशा बतला सकता हूँ। जिन शब्दों में मैं भगवती अहिंसा का वर्णन कर रहा हूँ और आधुनिक युग को देखते हुए जिन शब्दों में ये सूचनाएँ लिखी हैं, ठीक उन शब्दों में जैन शास्त्रों का वर्णन नहीं मिलता, पर हिंसा-अहिंसा का जैसा विस्तृत और विवेचनात्मक वर्णन जैन शास्त्रों में पाया जाता है, जैनियों के कथा-साहित्य को देखते हुए जो अहिंसा का व्यवहार्य रूप हम दिखाई देता है, उनमें हिंसा भी अहिंसा और अहिंसा भी हिंसा कह कर जो भगवती अहिंसा का व्यापक और असली रूप बनाया गया

है, कार्य पर नहीं किन्तु काय व मूल म रहने वाले भाव पर जिस प्रकार हिंसा अहिंसा का निर्णय किया गया है, उससे महावीर स्वामी की उस व्यापक अहिंसा का पता लगता है जो बुद्धिगम्य है, अनेकान्तमय है, व्यवहार्य है। उसी के अनुसार ये सूचनाएँ कही जा सकती हैं जिनका उल्लेख मैंने यहाँ किया है।

आज देश में जो अहिंसात्मक आन्दोलन चल रहा है, वह जैन धर्म में वर्णित व्यापक अहिंसा का एक अंश है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अहिंसा के किसी एकाध अंश को लेकर ही किसी एक समय काम लिया जाता है पर दूसरे अंगों को ध्यान में न रखना या उनका एकान्तिक विरोध करना अहिंसा की उपासना नहीं है क्योंकि इसमें अनेकान्त नहीं है, भगवान सत्य नहीं है। महावीर स्वामी एकान्तवाद के विरोधी थे बल्कि प्राय सभी धर्म संस्थापक एकान्तवाद के विरोधी रहे। इस समय, शक्ति आदि के अनुसार अहिंसा के किसी भी एक रूप की साधना कर पर हम दूसरे अंगों की साधना की उपेक्षा न करनी चाहिये, विरोध तो करना ही नहीं चाहिये। बल्कि सभी तरह के साधक सहयोग से काम लें। इसी में भगवान सत्य की सेवा है और उसमें हमारा या जगत का कल्याण है।

महावीर स्वामी की इस व्यापक अहिंसा पर नजर डालने

से यह पता लगता है कि ऐसी अहिंसा के पास कायरता नहीं फटक सकती, न इससे कोई देश गुलाम बन सकता है। आज मुझे समय नहीं है, नहीं तो, मैं यह बतलाता कि 'जैन धर्म की अहिंसा से भारत गारत हुआ' यह कथन कितना मिथ्या है। इस विषय में मैं इतना ही कहूगा कि वर्ण-व्यवस्था का दुरुपयोग, अन्धविश्वास, छुआछूत का भूत और फूट हमारी पराधीनता के कारण हैं, सिकन्दर से ले कर ईस्ट इंडिया कम्पनी के आक्रमणों तक जिन जिन हमलो मे हम हारे, उन सब मे ये ही कारण हैं, अहिंसा नहीं। और खासकर महावीर स्वामी की अनेकांतमय अहिंसा का तो उन पराजयों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हाँ, इतना अवश्य कहूगा कि महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा मे और आजकल जैन समाज में जो अहिंसा दिखाई देती है उस अहिंसा मे जमीन आसमान का अन्तर है। और यह दुर्दशा सब जगह है। ईसा कहाँ और ईसाई कहाँ? मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्रजी कहाँ और हिन्दू कहाँ? हजरत मुहम्मद कहाँ और मुसलमान कहाँ? मैं तो आज आज के जैनियों की नहीं, महावीर स्वामी की अहिंसा के विषय मे कहने बैठा था या खडा था, सो कह दिया।

मैंने आपका बहुत समय खा लिया और बदले में बहुत सा परोस दिया, खासकर जल्दी जल्दी बोल कर तो आपको

अहिंसा का पुनरुद्धार

[वक्ता—श्री सतीशचन्द्र दासगुप्त, सोदपुर (बंगाल)]

हमारे सामने प्रश्न यह है कि अहिंसा का पुनरुद्धार कैसे हो ? यह प्रश्न खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर रहा है कि पहले अहिंसा समाज में थी, किन्तु अभी नहीं है और इसीलिये अब उसका पुनरुद्धार करना है। बच्चा जैसे सहज भाव से माता के स्तन से दूध पिया करता है, दूध पीने के लिये उसे कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती, उसी तरह बिना किसी प्रयास के सहज भाव से समाज पहले अहिंसा का पालन करता था। उस समय समाज स्वभाव से ही अहिंसा

का अमृत पान करता था। किन्तु आज समाज में इतने साधु, भिक्षु व सन्यासियों के मौजूद रहते हुए भी वह अहिंसा नहीं है, इसीलिये अहिंसा के पुनरुद्धार की बात उठती है।

अहिंसा की आबहवा में ही भारतवर्ष की समाज रचना हुई थी। यहाँ के सारे आचार व आचरण में, सारे धर्मानुष्ठान में जिस पवित्र भाव के आधार पर यहाँ की सभ्यता गठित हुई थी, वह था—इसका क्रमशः विस्तृत, व्यापक आत्मबोध अर्थात् सब को अपना आत्मीय समझना। 'लोकाः समस्ता सुखिनो भवन्तु'—सभी सुखी हों, यही भावना भारतीय सभ्यता का आधार थी।

प्रत्येक देश में परिवार का बन्धन हमेशा से रहा है। किन्तु प्रायः सभी देशों में लोगों की हमेशा यही चेष्टा रही है कि एक परिवार में ज्यादा लोग न हों। लड़का बड़ा होने पर अपनी स्त्री को लेकर अलग हो जाता है। किन्तु इस देश में पुत्र-पौत्रों के साथ मिल कर एक संयुक्त व सम्मिलित परिवार में एक साथ रहने में ही लोग सन्तोष अनुभव करते थे। ऐसे सामूहिक परिवार को कायम रखने में ही उन्हें आनन्द आता था। तीन तीन पीढ़ियों तक सभी एक साथ एक परिवार में रह कर अपने उपार्जन को आपस में बराबर बराबर बाँट कर बड़े सुख से लोग जिन्दगी बसर किया करते थे। यह समभाव कैसे कायम रहता था?

परिवार मे कोई ज्यादा उपार्जन करता है और कोई कम, और कोई तो कुछ भी उपार्जन नहीं कर सकता, किन्तु तो भी परिवार का हरएक आदमी एक समान सुखी रहता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण सिर्फ महान त्याग भाव व व्यापक कौटुम्बिक या पारिवारिक महानुभूति ही है। इसी के माने हैं—पारिवारिक जीवन मे अहिंसा का प्रयोग। हम देख रह हैं कि आजकल सयुक्त परिवार की सख्या घटती चली जा रही है। और जहां है भी, वहां परिवार म जो सुख शान्ति होनी चाहिये, वह कहां? आज की हालत पर विचार करत ही मन मे यह प्रश्न उठता है कि हमारी ऐसी दशा क्यो हुई? आज से ५०—६० वर्ष पहले भी सम्मिलित परिवार मे जितने लोग रहत थे और उनके बीच जितनी सुख शान्ति रहती थी, वह आज क्यो नहीं है? इसका कारण है कौटुम्बिक व पारिवारिक जीवन मे सहनशीलता व सहानुभूति का अभाव या दूसरे शब्दो मे व्यावहारिक अहिंसा की कमी।

सम्मिलित परिवार को थोडा और विस्तृत करत ही ग्राम-सगठन की बात आप से आप आजाती है। सयुक्त परिवार का एक एक छोटा परिवार उस बडे परिवार के दुख के बोझ को आपस मे समान भाव से बांटने के लिये प्रस्तुत रहता था और एक साथ मिल कर रहने मे जो सन्तोष व

आनन्द है, उसका उपभोग करते हुए जीवन-यापन करने का निश्चय करता था। इस तरह व प्रेम व आत्मीयता के बन्धन में बँधे रहते थे। उसी तरह प्रत्येक संयुक्त परिवार अपने पड़ोसी परिवारों के साथ स्वाभाविक प्रेमपाश में बंधा रहता था। सब परस्पर प्रेम या अहिंसा के कोमल व सुखद बन्धन में बंधे रहते थे। इस तरह ग्राम्य-जीवन में व्यावहारिक अहिंसा का स्वाभाविक प्रयोग आप से आप चलता था। यही उस समय के ग्राम्य जीवन की कल्पना थी। उस समय का ग्राम एक बड़ा परिवार ही होता था। ग्राम की सारी जरूरत जैसे अन्न, वस्त्र और दूसरा दूसरी चीजों की आवश्यकताएँ सभी ग्राम के अंदर ही पूरी हो जाती थीं या ज्यादे से ज्यादा आसपास के ग्रामों की मदद से पूरी हो जाती थीं। ग्राम की सामाजिक व्यवस्था ग्राम के ही हाथों में रहती थी। स्वास्थ्य, शिल्प, वाहन, सवारी, पूजा, पुरोहित, पठन, पाठन, सब का इन्तजाम ग्राम के अधीन था। ग्राम की पंचायत ग्राम का शासन व सेवा करती थी। स्टेट के अन्दर ग्राम एक छोटा सा स्वावलम्बी स्टेट ही होता था। ग्रामवासी मिल कर ग्राम का शासन करते थे और देश का शासन राजा करते थे। राजा के परिवर्तन होने पर भी ग्राम स्टेट में कोई परिवर्तन नहीं होता था। एक राजा दूसरे राजा पर विजय प्राप्त करते थे, उनके माल खजाने पर कब्जा कर लेते थे किन्तु

ग्राम स्टट बिल्कुल स्वतंत्र रहता था। राजा की विजय या पराजय उसे स्पर्श नहीं कर पाती थी। अहिंसा वहाँ इस कदर स्वभाव-सिद्ध थी की ग्राम की सुख-शान्ति में कोई भी विघ्न पैदा नहीं होने पाता था। राजा कर लेते थे किन्तु अपने लिये नहीं। वे विप्लव डकैती, व बाहरी दुश्मनों से प्रजा की रक्षा करते थे। ग्राम के न्याय का निरूपण ग्रामवासियों के जरिए ही होता था। उस न्याय के फैसले में दंड नहीं होता था, सिर्फ मुजरिम के दिल का परिवर्त्तन किया जाता था। मनुस्मृति में दो प्रकार के दंड का जिक्र है—(१) प्रायश्चित्त दंड (२) शारीरिक दंड। किन्तु प्रायश्चित्त के द्वारा जहाँ अपराधी का संशोधन नहीं हो सकता था, वहीं उसे राजा के न्यायालय में जाना पड़ता था और उस विचारालय के फैसले के मुताबिक दंड भी कठोर होता था। अतएव यह मान लिया जा सकता है कि ग्राम के अपराधी का विचार ज्यादातर ग्रामवासी के द्वारा ही सम्पन्न होता था।

श्रमजीवी लोग बड़े सुख-चैन से जरूरत की चीजें पैदा कर के या भिन्न भिन्न हुनर व शिल्प के जरिए समाज की सेवा करते थे और इसी से उन्हें जीविका मिलती थी। उन्हें जीविका की कोई चिन्ता न रहती थी। वे बड़े सन्तोष से जीवन यापन करते थे। शिक्षक का काम लिखाना-पढ़ाना था और बदले में उसे जीवन यात्रा की सारी जरूरतें आप से

आप प्राप्त हो जाती थीं। इस सहज जीवन-यात्रा में प्रतियोगिता या प्रतिद्वन्द्विता का ख्याल बिल्कुल नहीं रहता था, सब कामों, सभी हुनरों, सारे वाणिज्य व्यवसाय और उद्योगों के अन्दर परस्पर मेल व रक्षा का भाव ओतप्रोत था। अहिंसा व प्रेम समाज के रग रग में फैले हुए थे।

ऐसे अनुपम सम्मिलन में भारतवासी को स्वतन्त्र विचार व स्वाधीन कार्य्य करने का अवकाश मिलता था। स्टेट जैसी कोई बाह्य शक्ति लोगों के जीवन पर कोई विस्तृत प्रभाव नहीं डाल सकती थी। ग्राम-स्वावलम्बन व व्यक्ति-स्वावलम्बन ये ही सभ्यता के प्राण हैं। इस सभ्यता के अन्दर शिल्प व वाणिज्य जीवन में लेश मात्र भी प्रतियोगिता नहीं रहती। यही है अहिंसा भाव की स्वाभाविक साधना। इसी से अहिंसा की पुष्टि होती है। शिल्पी या कारीगर आपस में एक दूसरे का नुक्सान या नाश नहीं करते, वरन् शिल्प संघ द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते हैं। पहले इसी प्रेममय भाव के द्वारा लोगों के जीवन व कर्म नियन्त्रित होते थे।

इस से साफ जाहिर है कि ऐसा पार्श्ववर्ती वातावरण, ऐसे सुख-शान्तिमय सम्मिलित परिवार, ऐसे दृढ़ स्वावलम्बी ग्राम व स्टेट और इस तरह के संघबद्ध शिल्पी व कारीगरों के द्वारा नियन्त्रित सामाजिक जीवन—ये सब केवल मौलिक व

स्वाभाविक अहिंसा भाय क प्रमाद व प्रभाव से ही पैदा हात हैं। विच्छिन्न होने पर प्रतिद्वन्द्वी कभी बच नहीं सकत। परस्पर विरोध में कभी उन्नति हो नहीं सकती। एकता, स्वनियन्त्रण और सघ-बुद्धि से अहिंसा की रक्षा व पुष्टि होती है। ऐसा समाज क्रमश अधिकाधिक अहिंसा की ओर अग्रसर होता है।

इसी तरह क सगठित समाज मे बुद्ध, महावीर इत्यादि युगावतारों क जीवन व कर्म ने साधारण जनता के जीवन म अहिंसा क रास्त पर नवीन प्रकाश का विस्तार किया था। उस समय बौद्ध भिक्षुगण और जैनाचार्य्य गण ने समाज को अहिंसा की बुनियाद पर कायम रखन म बहुत बडी मदद पहुचायी थी। वह एक जमाना था, जब इस तरह का सगठित समाज धर्मावलम्बी हो कर बडी शान्ति व चैन से जीवन-यापन कर रहा था। इस शिक्षा की बदौलत भारतवर्ष ने कभी दूसरे देश पर आक्रमण नहीं किया। वह धर्म क द्वारा विश्व-विजय करने की महाराज अशोक क समय मे निकला था। किन्तु तोप, कमान, हाथी-घोडे व पैदल आदि चतुरग सना ले कर कभी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया। यहाँ स सन्यासी, भिक्षु व ज्ञानी आचार्यगण सिर्फ भारत की शिक्षा, संस्कृति व मुक्ति का सन्देश ले कर बाहर गये थे।

किन्तु वह दिन बराबर कायम नहीं रहा। वह भी एक

समय आया, जब कि पतन आरम्भ हो गया। बाहरी संघर्ष में भारत की कोई विशेष क्षति नहीं हुई। बाहरी संघ यहाँ आये। आक्रमण किया। लूट मचाई। यहाँ राज करने लगे। किन्तु आखिर में भारतीय शिक्षा व साधना के सामने उन्हें हार माननी पडी और स्वयं भारतीय बन जाना पडा। किन्तु इस तरह के बाहरी विप्लव ने ग्राम की प्राण शक्ति पर जो चोट पहुचायी थी, वह भी देखने में आती है। त्याग व स्वावलम्बन-शक्ति में जो श्रद्धा बराबर से ग्राम के अन्दर कायम थी, वह क्षीण होने लगी।

अंग्रेजों के भारत में प्रवेश करने के समय हमारी अवनति शुरू हो चुकी थी। ग्राम अपने को पहले की नाईं स्वावलम्बी व आत्मनिष्ठ रखने में असमर्थ हो रहे थे। अंग्रेजों के यहाँ प्रवेश करने के समय भारतीय अहिंसा की महान् परिकल्पना शक्ति क्षीण हो रही थी। अंग्रेजों को लोग देवता मानने लगे। और पडोसियों के प्रति सहानुभूति के अभाव में संताप की जगह असंतोष, धर्म की जगह अधर्म संघबद्ध व्यापार वाणिज्य की जगह परस्पर प्रतियोगिता दिखाई देने लगी। समाज के लोग ही समाज के दुश्मन बन बैठे और विदेशी व्यापारियों की लूट में मदद करने लगे। उसी समय से भारतीय समाज के अन्दर अहिंसा का प्रभाव क्रमशः अधिकाधिक क्षीण होता आ रहा है।

किसी भी कारण से हो, हम देख रहे हैं कि आज हम हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी समान रूप से सम्बलहीन हो बैठे हैं। धर्म-भाव अब फिर समाज को नियंत्रित नहीं कर पाता। धर्म की जगह आज सिर्फ अर्थ का सम्मान हो रहा है और अहिंसा का प्राण प्रवाह मंद व क्षीण हो गया है। ऐसी ही हालत में अहिंसा के पुनरुत्थान का प्रश्न उठ सकता है और उठना स्वाभाविक भी है। अहिंसा की विश्वविजयी वार्त्ता, राजनीतिक क्षेत्र में उसके प्रयोग व सफलता की बात आज गांधीजी अपने जीवन व आचरण के जरिये हमें समझा रहे हैं। वे आज कह रहे हैं कि जीवन को अहिंसामय बनाओ, तो सारी विपदायें आप से आप दूर हो जायेंगी। इससे न केवल विदेशी शोषणकारी शासन व पराधीनता से हमारा उद्धार होगा बल्कि देश-रक्षा के लिये युद्ध की संहार-लीला की भी कोई जरूरत न रहेगी। यह पहले जमाने से भी आगे बढ़ जाने की बात है। हमें फिर से अहिंसा का नवीन मंत्र मिला है। बुद्ध, महावीर, चैतन्य, रामकृष्ण व विवेकानन्द ने जिस समाज की सेवा की थी, उसके अन्दर फिर से नवीन जागरण दिखाई दे रहा है। सिर्फ सामाजिक क्षेत्र में नहीं, राजनीतिक क्षेत्र में भी अहिंसा के प्रयोग के द्वारा देश को स्वाधीन बनाने और प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करने की दीक्षा गांधीजी हमें दे चुके हैं। अब हमारा कर्त्तव्य है कि

हम उसे कार्य म परिणत करें। उस कार्य मे परिणत करने का निश्चित रास्ता भी उन्होंने हम दिखला दिया है। व हमें पारिवारिक, सामाजिक व सामूहिक क्षेत्र म अहिसा बरतने को कह रहे हैं। व कह रहे हैं कि चरखा चला कर गरीब समाज क लिये अपने अन्दर आत्मीयता व आत्मबोध जगाओ। खादी व ग्रामोद्योग की बनी हुई चीजों का इस्तेमाल कर शोषित समाज क साथ सहानुभूति अनुभव करो। जितनी चीजें हम इस्तेमाल करते हैं, उनमे सर्व प्रथम हमें यह विचार करना चाहिये कि ये हाथ की बनी हैं या मशीन की। यदि हमें बचना है तो मशीन वाली यांत्रिक सभ्यता स अपनी, अपने परिवार व समाज तथा देश की रक्षा करना निहायत जरूरी है। यांत्रिक सभ्यता दूसरो का शोषण करती है। वह दूसरों को बिना हानि पहुचाये, और उनका अहार बिना छीन टिक नहीं सकती। वह हिंसा पर ही कायम रह सकती है। अहिंसा व्यापक रूप से तभी प्रतिष्ठित हो सकती है जब हम ग्रामों को सुप्रतिष्ठित कर अर्थात् केवल वहीं की बनी हुई चीज इस्तेमाल कर। इसके बिना अहिंसा का व्यावहारिक व वास्तविक पालन होना असभव है। यांत्रिक सभ्यता का तांडव नृत्य आज हमारे सामने हो रहा है। यांत्रिक सभ्यता क पुरोहितों और आचार्यों क बीच यह सहार लीला चल रही है। इसी सहार की तैयारी के लिये

जर्मनी सन् १९३२ से सन् १९३७ ई० तक [illegible]
करोड रुपये युद्ध-सरजाम की तैयारी में खर्च [illegible]
लिखित प्रमाण हमारे सामने मौजूद है। सन् [illegible]
से प्रमाण की कोइ जरूरत नहीं। वह [illegible]
उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। [illegible]
इंगलैण्ड आज दैनिक १० करोड रुपया इस [illegible]
में आहुति देकर युद्ध कर रहा है। [illegible]
यांत्रिक सभ्यता की परिणति है। इसी [illegible]
नीति कहते हैं- बडी मछलियाँ छोटी [illegible]
जाता है, बडे हिंस्र पशु छोटे पशुओं [illegible]
है। यह नीति मनुष्य के लिये नहीं है। [illegible]
और हिंसा के ऊपर कायम इस आसुरिक [illegible]
बचना है। तभी हमारे परिवार, [illegible]
होगी। आप गांधीजी की बात [illegible]
'हरिजन', 'हरिजन सेवक', 'हरिजन [illegible]
निकला करता है। उसे आप ध्यान [illegible]
आचरण में लाय। यदि हम गांधीजी [illegible]
इस अहिंसा पथ पर चलने की [illegible]
इस सजीवनी अहिंसा का पुनरुद्धार [illegible]
भी अग्रसर हो कर स्वय नूतन [illegible]
विश्व को उसका अमृत-रस पान [illegible]
वर्ष फिर से अपना स्वाभाविक [illegible]
ससार को अहिंसा का मत्र [illegible]

सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श

[वक्ता—श्री जैनेन्द्रकुमार दिल्ली]



आज मैं कुछ बे स्वाद बात आपको कहना चाहता हूँ। स्वाद भोग मे होता है। धर्म मे त्याग होता है। धर्म की बात गर्म नहीं होनी चाहिए। गर्मागर्मी अच्छी लगा करती है। कहा है "धर्मस्य तत्व निहित गुहायाम्"। वह गुफा है हृदय। हृदय की उल्टी रीति है। ठडी धीमी बात वहाँ पहुँच जाती है। गर्म-तत्त बात रास्ते मे इन्द्रिय विषयो को चहका कर उस चक्कर मे रह जाती है। उत्तेजना उससे होती है कि फिर थकान सी भी होती है। भोग के स्वाद

में यही तो है—आगे रस, पीछे विष। पर धर्म यदि रूखा है तो फल उसका ही मीठा होता है। आज पर्युषण के दिन जोर की वाणी और प्रखर तर्क से आपकी चित्त-वृत्ति को मैं मथ डालना नहीं चाहता। वह मेरा वश भी नहीं है। देखते ही हैं आप कि मैं कैसा निर्बल हूँ। कोई आग सी लहक आप मे झुलस उठे, ऐसा काम मैं नहीं करूँगा। आग चाहिए, पर ठंडी आग चाहिए। आध्यात्मिक सुलग वही है। भीतर सच्ची जिज्ञासा जगी कि फिर बुझती नहीं। पर उसमे दूसरा कोई नहीं जलता है, हमारे विकार ही जलते हैं। अभी उस दिन दाद की बीमारी के बारे मे पढ रहा था। दाद को जितना खुजाओ, उतना मज़ा आता है। असल मे उसके छोटे छोटे कीड़े बदन पर फैले होते हैं। खूब खुजा कर अपना लहू हम उन्हें पिलाते हैं। उस मजे का मतलब उन कीडों का मजा है। अपना खून उन्हें पिलाते और रस मानते हैं। आपस के विवाद और वितण्डा से जो मज़ा अक्सर आया करता है, वह भी इसी किस्म का है। उसमे हम अपना खून पीते और मजा मानते हैं

आज के परचे मे आपने देखा कि मेरा विषय है 'सीमित स्वधर्म और असीम आदर्श'। विषय वह क्लिष्ट मालूम होता है। उसका दोषी मैं हूँ। मैंने ही वह विषय दिया। पर सुनने मे वह क्लिष्ट हो, आप देखेंगे कि हमारे और

आपके यह नित्य प्रति के काम का है। दूर की पहुंच मेरी नहीं है। मेरा दुर्भाग्य कि मैं विद्वान नहीं हूँ। पर आज तो मैं उसे सद्‌भाग्य मानता हूँ। गीता की अहिंसा म और महावीर की अहिंसा मे और बुद्ध की अहिंसा में और गांधी की अहिंसा मे क्या तारतम्य और क्या उनमे सूक्ष्म भद है? यह विषय अपनी अ विद्वत्ता के कारण मेरी पात्रता से बाहर है, यह मेरा सौभाग्य नहीं तो क्या है? नहीं तो इस सूक्ष्म चर्चा मे गिर कर मुझ क्या कभी उसका किनारा मिलता? इससे मै कृतज्ञ हूँ कि जितनी बुद्धि मुझे मिली है उससे आगे बढ़ने की तबियत होने का सामान मुझ नहीं मिला है। अपने से दूर जा कर मैं कुछ नहीं पकड पाता। जिसकी प्रतिध्वनि मेरे भीतर नहीं है, ऐसा कुछ तत्व हो तो उसकी उधेड़-बुन मे मैं किस आधार पर पड जाऊ?

विषय क दो हिस्से है। पहला है, सीमित स्वधम अर्थात् हमारा स्वधर्म सीमित है। उस सीमा को हम समझना और स्वीकार करना चाहिए और उससे झगडना नहीं चाहिए।

अपन सीमित होन की बात पर ज्यादा समय क्या लिया जाय। हम में से हरएक अपने साढे तीन हाथ का है। उससे आग उसकी हस्ती नहीं। हर काम और हर बात मे अपने सीमित होने का हमे पता चलता रहता है। देह साढ़े-तीन

हाथ और उम्र समझ लीजिये साठ सौ साल। इस तरह क्षेत्र और काल की मर्यादा के भीतर हमारा अस्तित्व है। इन मर्यादाओं के भीतर ही हम पर कुछ कर्त्तव्य लागू होते हैं। वे कर्त्तव्य ही हमारा स्वधर्म है।

यह बात साफ़ है। पर धुँधली भी हो जाती है। कारण कि हमारे भीतर मन है और बुद्धि है और इच्छाएँ हैं। मन भाग कर दुनियां में दौड़ता है, बुद्धि आसमान को नापती है और इच्छाएँ जाने क्या क्या अपनी मुट्ठी में कर लेना चाहती हैं। अपने ही अन्दर के इन तत्वों के कारण हम अपनी ससीमता को चुपचाप नहीं झेल पाते। हमारी जो हद है, उन पर पहुंच कर हमारे मन बुद्धि सदा ही टकराया करते हैं और उन सीमाओं की अवज्ञा करके स्वच्छन्द विचरना चाहते हैं।

जैसे सपने की ही बात लीजिए। आप रोग में खटिया से लगे पड़े हैं। पर सपने में ऐसे उड़ते हैं, ऐसे उड़ते हैं, जैसे आपके लिए कोई रोक ही नहीं। बादल पर चढ़ जाते हैं, सारी दुनियां को अपने मन के अनुरूप शकल दे सकते हैं। दिन के काम में आप बन्धे हुए हैं। पर रात के सपने में एकदम खुल जाते हैं।

मैं उन आदमियों में नहीं हूं जो सपने को सपना कह कर उड़ा दे सकते हैं। मैं तो वहम को भी मानता हूं। इसी

तरह सपना दिन की धूप में सपना हो, पर रात में और मिचन पर वही सच होता है। हमारे सपने पर हमारी ही सीमा नहीं रहती है। और मैं यह भी आपको कहना चाहता हूँ कि सपना न होता तो हम जग भी न सकते। अनिद्रा नाम का जो रोग है, वह नहीं तो रोग ही फिर क्यों होता? दो रोज न सोइये, फिर देखिये क्या हालत होती है। सपने के कारण हममें सन्तुलन आता और जीना सम्भव होता है।

पर एक बार की बात है कि रात को मेरी बहन एकाएक चीख पड़ी। ऐसी कातर चीख थी कि क्या बताऊँ। पर देखा तो वह सो रही थी। थोड़ी देर में फिर चीख हुई। अब के वह उठ पड़ी थी। माथे पर पसीना था, थरथर काँप रही थी। मैंने पूछा, "क्या है? बोली, "कुछ नहीं।" यह 'कुछ नहीं' उसने झूठ नहीं कहा था, पर उसे सचमुच मालूम नहीं था कि क्या है। और वह यही जानती थी कि जो है, वह 'कुछ नहीं' है। इसलिए यह जो 'कुछ नहीं' नाम की वस्तु है, जिस का दूसरा नाम है स्वप्न, वह एकदम असत्य नहीं है। उसमें से चीख निकल सकी, उससे बदन पर पसीना और थरथराहट आ सकी।

यह बात मैंने आप को यह बताने के लिए कही कि हमारी सीमा और हमारे ही अन्दर के असीम में जब वन्द्व झगड़ा

पैदा हो जाता है, यानी तीव्र संघर्ष मच जाता है, तब उसका अनिष्ट परिणाम होता है। हम सीमित हैं, हमारा आदर्श असीम है। उन दोनों सीम और असीम के तनाव (Tension) में से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। वही हम सचेतन प्राणियों की परिभाषा है। ससीम से असीम की ओर गति उस जीवन का विकास है। और उन में विग्रह हमारा क्लेश और हमारी तकलीफ है।

यहाँ पर एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेने की है। वह यह कि अपनी सीमाओं से नाराज होकर उन्हें हठात् इन्कार करके हम उन्हें अपनी जकड़ बनाते हैं। और अगर हम उन सीमाओं को आगे बढ़ाना चाहते हैं, यानी अपना विकास करना चाहते हैं, तो वह पुरुषार्थ एक बार उन सीमाओं के स्वीकार के आधार पर होगा, इन्कार की स्पर्द्धा में नहीं।

इसको साफ करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए, एक बालक को लीजिए। वह सत्रह-अठारह वर्ष का हो गया है। पढ़न में बहुत तेज़ है—एफ० ए० पास कर गया है। खूब ऊंचा साहित्य उसने बाँचा है। नतीजा यह कि उसके ख़याल बहुत उठ गये हैं। उसका घर गाँव में है, पर वह यह मानता है कि विश्व को अपना घर समझना चाहिए। उसके माता-पिता वैष्णव या जैन या मुसलमान हैं। लेकिन पढ़-

पढ़ कर उसने जाना है कि सच्चा धर्म तो स्वतन्त्र है और मेरे माता पिता संकीर्णता में पड़े हुए हैं।

अब कल्पना में लाइये कि इस बालक का अपनी परिस्थिति के साथ कैसे मेल बैठेगा? क्या वह जो बालक सोचता है, ग़लत है? ग़लत तो नहीं है, पर अगर उसके सही होने के जोश में घर में पांव रखते ही वह बालक मां-बाप के उद्धार की चेष्टा करने लगता है, कहता है कि तुम वहम में पड़े हो और जब तक तुम अपनी संकीर्णता छोड़ते नहीं हो, मैं इस घर में खाना खाने को भी तैयार नहीं हूँ। अगर वह ऐसा आचरण करता है तो आप क्या कहेंगे? उसे विद्वान् कहेंगे या मूर्ख कहेंगे? विद्वत्ता तो उसकी सच्ची है, पर अपने स्वधर्म की मर्यादा जो वह भूल बैठा है, इससे वह सारी विद्वत्ता ही उसकी मूर्खता हो जाती है।

बालक का उदाहरण हमारी और आपकी स्थितियों पर भी एक न-एक प्रकार से लागू है। मान लीजिए, मैं जैन कुल में उत्पन्न हूँ। पर जैनेतर को अपना भाई मानना चाहता हूँ। जैन सम्प्रदाय की सीमा के बाहर असत्य ही असत्य है, यह नहीं मानना चाहता। ऐसा जैनत्व जो जैन से बाहर प्रेम के नाते को ग़लत ठहराये, मेरी आत्मा नहीं स्वीकार करती। मैं यह नहीं मानना चाहता कि असहानुभूति या

अपमान या अनादर किसी का भी भला हो सकता है। तब मैं क्या करूँ? क्या ऊँची गर्दन कर के यह कहूँ कि मैं जैन नहीं हूँ, मानव-धर्मी हूँ, और तुम जैन धर्मी हो तो भूल में हो? मैं मानता हूँ कि मेरा ऐसा आचरण अहंकार का आचरण होगा। जैन धर्म अथवा कि कोई धर्म क्या अमानव होने को कहता है? अगर नहीं, तो जैन धर्मावलम्बी, अथवा कि कोई धर्मावलम्बी हो कर व्यक्ति के सच्चा मनुष्य बनने में क्या बाधा है? इसलिए जिसको परम्परा से जैन धर्म प्राप्त हो गया है, वह सच्चा जैन बनने के द्वारा ही साधारणतया सच्चा आदमी बन सकता है। सच्चा आदमी बनने के लिए उसे अपने जन्म अथवा जीवन की स्थिति को इन्कार करना पड़ेगा जिसकी मुझ को कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती।

छुटपन में कहानी पढ़ी थी कि चन्दा देख कर रामजी मचल गये। रोवें सो रोवें। मान कर ही न रहें। यह तो खैर थी कि इतने छोटे थे कि चन्दा देख कर हाथ लपकाते थे, उनके पैर अपनी जगह छोड़ कर बहुत उछल नहीं सकते थे। अपनी जमीन छोड़ कर चंदा राजा की तरफ छलांग भरने जितनी कहीं बदन में शक्ति होती और माँ पास न होतीं, तो रामजी गिरगिरा कर अपना सिर ही फोड़ लेते। पर गनीमत कि उनमें इतनी ताकत न थी और माँ पास थीं। आखिर माँ ने क्या किया कि थाली में पानी भर कर उस चन्दा राजा

का आसमान से नीचे थाली के बीच म उतार लिया। रामजी उसस मगन हो गए, खले, और सो गये।

हम सब पर माताएँ तो रह नहीं गयी हैं। मेरी मां तो मुझे छोड़ ही गयी है। उनके अभाव में, यह समझ कर कि हम बड़े हैं, क्या चाँद पर हमें मचलना चाहिए? और इस बचपन के खेल के लिए क्या औरों को भी उक-साना चाहिए? आसमान के चाँद को या तो धीर-भाव से देखने की हम मे शक्ति हो या अपने भीतर अक्स मे ले कर उसे हम बिठा सकें। और इस तरह जिस धरती पर हम खड़े हैं उस पर से अपने पैर उखड़ने न दें। यही तो एक रास्ता है। नहीं तो अधर मे उड़ कर चाँद तो हम पायेंगे नहीं, जहाँ हैं वहाँ से भी गिर रहेंगे।

यह सब बात कहना और बच्चों के उदाहरण देना अप्रा-सगिक न माना जाय। क़दम क़दम पर स्थिति भग का खतरा हमारे लिए है। मैं छोटा बच्चा होऊ, पर इस दुनियाँ म कुछ हैं जो अक्षर पढ़ कर साक्षर बने हैं। उन मे उत्साह है, कल्पना है। व लम्बी दौड़ दौड़त और ऊँची फाँद लगाते हैं। व यह तक क्यो मान कि व बच्चे हैं? उन्हें अपने खेल में आनन्द है। गिरत है, तो उन्ह हक है कि उस मे से वे सबक न लें बल्कि खल का और मज़ा ल। व उस आनन्द की अतिशयता को झेल नहीं सकत, इससे

हम-तुम को भी वह आनन्द देना चाहते हैं। अब हम क्या करें? हमारे पास माँ है, या कोई हम माँ-तुल्य है, या कोई बापू है, तब तो ठीक है। धर्म-संकट में हम वहीं पहुँच जायेंगे। पर यदि हम कुछ बड़े हो गये हैं और माँ हम से छिन गयी है, और किन्हीं को बापू बना लेने जितनी विनय या सुविधा हमें नहीं है, तो स्वधर्म को हम अपने पकड़ लें और उस की गोद को न छोड़ें।

हमारे लिए स्वधर्म हमारी मर्यादा है। मानों समूचा धर्म हमारे लिए वह है। हमारी स्थिति की सीमाएँ हैं। हम बालक हैं या युवा हैं, या अपने परिवार में बड़े हैं या नगर-मान्य हैं, या समाज रक्षण की कुछ जिम्मेदारियाँ हम पर हैं, अथवा राष्ट्रनेता हैं या कि लोकनायक हैं—इन सब हालतों में हमारा स्वधर्म सीमित है। अलग अलग हालत में सीमाएँ भी अलग हैं। बालक पर लोकनायक का कर्त्तव्य नहीं आता है। पर उन-उन स्थितियों में उन्हीं सीमित स्वधर्मों के पालन में हमारा मोक्ष है। जो व्यक्तिगत कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, वह पारिवारिक जिम्मेदारी निबाहने के योग्य नहीं बनता। और जो छोटे क्षेत्र के कर्त्तव्य का समुचित पालन कर दिखाता है, उसी पर बड़े क्षेत्र के दायित्व का भार आता है। विकास और मुक्ति का यही रास्ता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य की उपेक्षा करके सार्व-

जनिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नेतृत्व अथवा बड़प्पन अपनाने की कोशिश निष्फल और अनुचित है। इससे धर्म मन्दता उपस्थित होती है। निजी जीवन और सार्वजनिक जीवन दोनो उससे क्षुब्ध होते है।

स्वधर्म शब्द मे ही यह आता है कि वह सब के लिए भिन्न है। अर्थात दूसरे का स्वधर्म मेरे लिए परधर्म है।

अब प्रश्न है कि परधर्म के प्रति मेरा क्या व्यवहार हो? "स्वधर्मे निधनम् श्रेय, परधर्मो भयावह"। अर्थात, स्वधर्म न छोडना और परधर्म न ओढना। परधर्म पर का धर्म है, मेरा वह नहीं है। पर परधर्म मान कर भी मुझे उसके प्रति कैसे व्यवहार करना चाहिए—यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस प्रश्न के हल के लिए हमारे विषय का दूसरा अंश काम देगा। वह यह कि आदर्श असीम है। सत्य मेरी मुट्ठी मे नहीं है। उस पर मेरा स्वत्वाधिकार नहीं है। आदर्श मे खंड नहीं हो सकते। इससे आदर्श सत्य है। सत्य मे हम तुम सब समाये है। सब धर्म उसमें अभिन्न है। सब जीव उस मे एक है। असल मे तो सभी तरह का द्वैत उस मे अद्वैत है। वह अखण्ड है, अविभाज्य है। उसी को कहो परमात्मा, या ब्रह्म, या कुछ-भी। हम अपनी पृथकता में जीवात्मा है, अपनी एकता मे परमात्मा।

इस एक की झाँकियाँ अनेक हैं। जो जहाँ है वहाँ से वह अपने ही रूप में उसे देखता है। उन में कोई एक झाँकी गलत नहीं है। वे एक दूसरे की पूरक हैं। वे एक दूसरे से भिन्न हैं, पर अपनी अपनी जगह एक सी ही सही हैं। कोई अपनी झाँकी का चित्र उजला दे, दूसरा धुंधला। वह तो चित्र दाताओं पर है। कोई उसे अपने जीवन में एक रूप में प्रतिफलित करे, दूसरा दूसरे ही रूप में घटित करे—यह तो उनकी परिस्थिति और क्षमता पर अवलम्बित है। पर दोनों स्थानों पर जितनी ऐक्यानुभव और ऐक्य-प्रभाव की तीव्रता है उतनी ही सत्यता है। रूप और आकार पर कुछ मौक़ूफ़ नहीं है, असलियत तो आत्मा है।

इस ऊपर के सूत्र से परिणाम निकला कि स्वधर्म मेरे लिए सब कुछ हो, पर उसी भाँति परधर्म पर के लिए सब कुछ है। अर्थात् मुझे जितना स्वधर्म प्यारा होना चाहिए, मेरी कोशिश होनी चाहिए कि दूसरे का स्वधर्म उसे उतना ही प्यारा बने। स्वधर्म का आरोपण नहीं किया जा सकता। स्वधर्म का आरोपण एक तरह से परधर्म का स्वीकार ही है। किन्तु स्वधर्म में निधन अच्छा, परधर्म का स्वीकार तो कदापि इष्ट नहीं। और जब हम अपना धर्म किसी से मनवाना चाहते हैं तो उसका मतलब होता है कि उस पर परधर्म लादना चाहते हैं। यह तो हिंसा है।

मैं इसी ढग से हिंसा अहिंसा को देखता हूँ। अपने स्वधर्म पर मैं मर सकता हूँ। अपने भीतर अनुभूत सत्य पर आग्रह रह कर मुझे मौत आती हो, तो हर्ष से मुझ उसे भेंटना चाहिए। अब अहिंसा की पहिचान यह है कि दूसरे के स्वधर्म की रक्षा के निमित्त भी वैसा ही मैं त्याग कर सकूँ। मुसलमान के इस्लाम के लिए, अर्थात् मुसलमान को हिन्दू *बनाने नहीं बल्कि मुसलमान को सच्चा मुसलमान बने रहने* देने मे मदद देने के लिए, अपना सब कुछ होमने की लगन मुझ मे जितनी हो उतनी ही अहिंसा माननी चाहिए।

व्यवहार के लिए इस पर से यह नियम निकलता है कि यदि मैं गो-भक्त हिन्दू हूँ, पर एक मेरा भाई मुसलमान अपना धर्म मान कर गो कशी करता है, तो या तो मैं प्रेम-भाव से उस भाइ का हृदय जानूँ या मुझ मे सचमुच उतनी करुणा हो तो गाय की रक्षा के लिए अपनी गर्दन मुसलमान भाइ को दे दूँ। पर, थोड़ी देर के लिए समझिए कि एक मेरे जैसा गो भक्त हिन्दू गो वध की बात पर उत्तेजित हो कर उस मुसलमान भाइ को मारने चलता है। तो यह बिल्कुल उचित होगा कि मैं उस भूले गो भक्त की राह मे बाधा बन जाऊ और अपने जीते जी उस मुसलमान भाइ की कुरबानी मे बलात् विघ्न न पड़ने दूँ।

दूसरे के धर्म के लिए आदर भाव सच्चा तभी उत्पन्न

होगा जब स्वधर्म पर आरूढ़ रहने की हम में निष्ठा है। यह मेरी पक्की प्रतीति है। जिसमें स्वधर्म-निष्ठा नहीं है, दूसरे के स्वधर्म के प्रति त्याग की शक्ति भी उसमें नहीं होती है।

अर्थात् अपना धर्म छोड़ कर सब धर्मों को एक बनाने की कोशिश बेकार कोशिश है। धर्मों की एकता तो परमधर्म में अब भी है ही। फिर जो उन में स्थिति, काल और परम्परा की दृष्टि से बाहरी अनेकता दीखती है उसे मिटाने का आग्रह क्यों? मन का ऐक्य शरीर की पृथकता पर और भी सच्चा बनता है। जब प्रेम दो शरीरों को मिलाता है, तब वह मोह कहलाता है। भोग में दो शरीर अपनी पृथकता सहन न कर सकने के कारण मिलते हैं। इसी से भोग का फल ऐक्य नहीं अनैक्य होता है। प्रेमी प्रेमिका का विवाह हुआ कि थोड़े दिनों बाद उन का प्रेम उड़ जाता है। मैंने तो सौ फी सदी यह बात देखी है। क्यों ऐसा होता है? इसका कारण यह कि प्रेम मन की एकता चाहता है, पर वे शरीर की एकता के प्यासे हुए। इसलिए वह प्रेम मोह बना, मोह से काम आया और फिर तो देखा गया कि उसकी पूँछ में घृणा आ गयी है, प्रेम उड़ गया है।

आज मैं इस बात को बहुत जोर से कहना चाहता हूँ। क्योंकि लोग हैं जो धर्म-हीनता की जमीन पर सब धर्मों का मेल करना चाहते हैं। वे भले ... धर-

प्राय शुभ है। पर उनको समझना चाहिए कि जो ऊपरी अनेकता को खण्डित करना चाहता है, वह सच्ची एकता नहीं है। दो व्यक्ति अपना शरीर एक दूसरे से पवित्र रख कर ही सच्चे तौर पर परस्पर की आध्यात्मिक अभिन्नता पा सकते हैं। शरीर-स्पर्श का सुख जिस एक्यानुभव के लिए जरूरी है, उस में अवश्य जड़ता और मोह का अंश है।

बहुत लोग हैं जो बहुत ऊँचे उठ गये हैं। यानी वे नाम-धारी सब सम्प्रदायों, जातियों, धर्मों और हदबंदियों से ऊँचे उठ गये हैं। वह विश्व का एकता में रहते हैं। विश्व से कम किसी के साथ वह अपना नाता नहीं मानते। ऐसे लोग पूज्य हों, पर ऐसे लोग विश्व की सच्ची एकता को सम्पन्न नहीं कर सकते हैं। जो स्वयम् नहीं है, वह मन बुद्ध कैसे हो सकता है? शरीर से कोई विश्व में कैसे रह लेगा? रहेगा तो एक कमरे में ही। इसी तरह सब भाषाएँ कैसे बोल लेगा? बोलेगा तो एक समय एक भाषा ही। अर्थात् अपने प्रत्येक शरीर-व्यापार द्वारा व्यक्ति सीमित तो रहेगा ही। उस सीमा की स्वीकृति पर लज्जा क्या? बल्कि उस सीमा की स्वीकृति के साथ ही आत्मिक असीमता उपलब्ध करने का साधन हो सकता है।

स्वधर्म के सीमित और आदर्श के असीम होने के कारण हम को एक परमधर्म प्राप्त होता है अहिंसा। मेरा अपना धर्म

सीमित है, यह मुझे क्षण के लिये भी न भूलना चाहिए। अर्थात् किसी दूसरे पर उसका बोझ, उसकी चोट या उसका आरोप मैं नहीं डाल सकता। यह अहिंसा का तकाज़ा है कि मैं ऐसा न करूँ। दूसरे के लिए उसका स्वधर्म ही श्रेष्ठ है। उसको उसी में निष्ठित रखना मेरा कर्त्तव्य है। इसका यह आशय कि वाक् शक्ति, प्रचार-शक्ति अथवा किन्हीं भी और साधनों से विशेषण-युक्त किसी धर्म का प्रचार करने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। सच्चा धार्मिक ऐसे आग्रह से शून्य होगा। किसी की श्रद्धा विचलित करना उचित नहीं है। हम कैसे जानते हैं कि जो हम जानते हैं, वही ज्ञान की परिसीमा है? अगर परिसीमा नहीं है तो हम कैसे दूसरे की श्रद्धा पर आक्षेप कर सकते हैं या उसे अवहेलना से देख सकते हैं। अहिंसा का सार यही है।

साथ ही सत्य की जो झाँकी मुझे मिली है, मुझ अपूर्ण को तो वही पूर्ण सत्य जैसी है। इसलिए उस से न डिगने में मुझे जान पर भी खेल जाना चाहिए। यही सत्याग्रह है। पर ध्यान रहे कि इस (सत्य) आग्रह की सीधी चोट मुझ से बाहर कहीं न पड़े। अर्थात् यदि आग्रह सचमुच सत्य पर है तो वह अत्यन्त सविनय ही हो सकता है। विनय का जहाँ भंग हो, वहाँ आग्रह भी सत्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सत्य में तो सभी समाया है—

मेरी झांकी भी और सब की झांकी भी मेरा स्वधर्म भी और सब का स्वधर्म भी। फिर उस आदर्श रूप सम्पूर्ण सत्य को ध्यान में ले तो आग्रह को वहाँ गुंजाइश रह जाती है ?

बेशक यह सच है। शुद्ध सत्य में तो सब भेद लय है। हिंसा-अहिंसा का भेद वहाँ नहीं। ईश्वर अलिप्त है। युद्ध उस को नहीं छूता।

पर हम तो अपूर्ण प्राणी हैं। इस से जब तक अपूर्णता है, तब तक अहिंसा ही हमारा धर्म है। क्योंकि जिस के प्रति हिंसा हो, उस में भी तो ईश (सत्य) तत्त्व है। इस से हिंसा सत्य के प्रति द्रोह हो जाती है। और अहिंसा ही ईश्वर को अर्थात् सत्य को पाने का उपाय रहता है। हम अपूर्ण हैं, इसी से हमारा स्वधर्म सीमित है। और इसी से हर काल और हर स्थिति में अहिंसा का परमधर्म हम पर लागू है।

मैं नहीं जानता कि अपनी बात आप के आगे मैं साफ़ रख सका हूं। समय होता तो अपनी बात को और अच्छी तरह उदाहरणों के साथ खोल कर रखता। मैं मानता हूं कि अन्तिम आदर्श यानी परमात्म स्थिति और हमारी आज की व्यक्तिगत स्थिति, इन दोनों किनारों के बीच सतत् विकासशील धर्म की स्थिति को भी और गति को भी कैसे निबाहा जाय— यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। यही जीवन कला है। और इसी का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। निरपेक्ष सत्य और सापेक्ष्य

वास्तविकता—इन दोनों तटों को छूता हुआ हमारा जीवन है। एक ओर ऐहिकता पर हमारे पैर हैं, दूसरी ओर अध्यात्म में हमारी निष्ठा है। यों दोनों परस्पर विरोधी मालूम होते हों, किन्तु वह विरोध ही संयुक्त होता है हमारे जीवन में। संयुक्त होता है, नष्ट नहीं होता। उसके नाश का कोई कृत्रिम और बाहरी उपाय नहीं है। किसी तत्वशास्त्र या तर्कशास्त्र या कला अथवा विज्ञान से वह नहीं हो सकता। उपाय धर्म ही है जो पिंड को ब्रह्माण्ड से मिलाता है। ध्यान में रहे कि पिण्ड अब भी भीतर से ब्रह्म-स्वरूप ही है। पिण्ड यह पहचानेगा तो अपनी पिंडरूपता से उसका झगड़ा समाप्त हो जायगा। ऐसा होने पर साढ़े-तीन हाथ के शरीर में रह कर भी अन्त प्रकृति में व्यक्ति निखिल के साथ तत्सम होगा।

अन्त में, जिस विषय को लेकर हम चले थे, अपनी यात्रा में उसके बारे में हमें क्या परिणाम हाथ लगे हैं—एक बार फिर इसे देख लेना चाहिये।

पहला—व्यक्ति रूप में हम सीमित हैं। इस से स्वधर्म भी हमारा सीमित है।

दूसरा—वह स्वधर्म है, इसी से हम से दूसरे के लिए वह पर-धर्म है और उस पर वह लागू नहीं है।

तीसरा—स्वधर्म पालन से ही स्वधर्म की मर्यादा आगे बढ़ती यानी व्यक्ति का विकास होता है।

चौथा—स्वधर्म के पालन में मुझे मृत्यु से भी मुह मोडने का हक नहीं है। पर जो मेरे धर्म को अपना धम नहीं मानता, मेरा कर्त्तव्य है कि उसको उसके स्वधर्म में ही निष्ठित रखने में सहकारी बनू ।

पाँचवाँ—यह अनुभव सिद्ध है कि जो जितना स्वधर्म-निष्ठ और उसके पालन में अपने प्रति निर्मम होता है, वह दूसरे के प्रति उतना ही उदार, आदरशील और समभावी होता है।

छठा—समभावी होने का मतलब स्वधर्म हीन होना नहीं। बल्कि दूसरे में आत्मवत् वृत्ति रख कर उसके स्वधर्म को उतना ही अक्षुण्ण और पवित्र मानने और उसके लिए उतनी ही त्याग कर सकने की शक्ति होना है जितनी स्वयम् अपने स्वधर्म के लिए। यह काम किसी तर्क कौशल या शाब्दिक समतोलता से नहीं हो सकता, अत सिद्ध अहिंसा से ही सम्भव हो सकता है।

सातवा—आदर्श अखण्ड है। उस पर हमारी अपूर्णता की सीमा लागू नहीं है।

आठवाँ—जगत के नाम रूपात्मक सब धर्म अमुक समुदाय अथवा जाति के स्वधर्म ही हैं। वे भी इस तरह सीमित हैं। वे निराकार आदर्श के साकार अव्यक्त के अभिव्यक्त और निर्गुण के सगुण रूप हैं।

नवां—सब धर्म सच हैं। उन की सचाई में तरतमता नहीं है। इसलिए उन में तुलनात्मक बुद्धि गलत है। धार्मिक की अन्तःशुद्धि की अपेक्षा उन मे सचाई पडती है।

दसवां—आदर्श के असीम और स्वधर्म के सीमित होने के कारण अहिंसा सब के लिए एक सम सामान्य और परम धर्म है।

ग्यारहवां—असीम को पकडने की लालसा मे सीमाओ को लांघना या तोडना गलत है। असीम की साधना सीमाओं के भीतर रह कर करनी है। शरीर की सीमा आत्मा की सीमा नहीं है। और शरीर में रह कर आत्मा बहुत दूर, लगभग अनन्त दूर, तक उन्नति कर सकता है।

बारहवां—ऐक्य आत्मा मे है। शरीर के ऐक्य की प्यास लिप्सा कहलायेगी। आत्मैक्य साधने के लिये शरीर को पवित्र अर्थात असपृक्त रखना चाहिए। यह अनुभव की बात है कि भोग से दो व्यक्तियों के बीच का अन्तर बढता है और सयम से उन मे प्रेम दृढ़ होता है।

तेरहवां—आदर्श एक है, धर्म अनेक। अनेक द्वारा ही एक की उपलब्धि होगी। अनेकता से रुष्ट हो कर, क्षुब्ध हो कर ऊपरी जोड तोड़ से कुछ न होगा। सुधारकों के इस ढग के नकलीयता से किए गये प्रयत्न विशेष फल न ला सकेंगे। रूपाकार वस्तु निर्गुण अध्यात्म की आंच मे ही पहुच कर

अनायास अपने रूप और आकार के बन्धन से मुक्त होगी। समझौता इस क्षेत्र का सत्य नहीं है।

चौदहवां—दूसरे के स्वधर्म के लिए अपने स्वधर्म का अल्पांश भी त्याग किये बिना अपना उत्तरोत्तर अधिक त्याग कर सकना सजीव अहिंसा का लक्षण है। अहिंसा धर्म स्थितिबद्ध नहीं, बल्कि गतिशील है। इसलिए अहिंसक कभी अपनी अहिंसा को काफी नहीं मान सकता है। अपने प्रति निर्मोह, दूसरे के प्रति प्रेम अर्थात् अहिंसा की परिभाषा है।

बस, अब हुआ। गिनती आगे भी बढ़ सकती है। पर अब मैं पीछे हटूंगा। आज तो निश्चय मैंने आपको बहुत उकता दिया है। पर कोई हरज नहीं है। अब आप खुश हों कि मैं आप से अब अपनी जगह जाने की अनुमति लेता हूं। मुझे क्षमा करें। प्रणाम।

नारी और धर्म

[वक्ता—*श्रीमती हीराकुमारी देवी*, कलकत्ता]



सब से पहले मैं कुछ ऐसी बात बता देना चाहती हूँ जिन से आप सब को यह मालूम हो जाय कि जैन समाज की स्त्रिया धर्म किसे समझती हैं ? हम जैन समाज की स्त्रियां नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ करती आ रही हैं, धर्म के लिए कष्ट भी सहन करने को तैयार रहती हैं। पंचमी, चतुर्दशी आदि का उपवास करती हैं। कभी आठ दिन, पन्द्रह दिन और कभी तो एक मास तक का भी उपवास करती हैं। यह तप जैसा कि कुछ लोग कहते हैं वैसा तो सरल है नहीं।

इस मे मन पर काबू रखना पड़ता है, शरीर को भी तकलीफ पहुँचती है, तथापि हम उपवास आदि उत्साह के साथ करती है, दूसरे के रोकने पर भी हम तप करना नहीं छोड़ती हैं। व्रत सम्पूर्ण होने पर जब तक धूमधाम से उसका उद्यापन नहीं होता, तब तक हमको सन्तोष नहीं होता है। इसलिए हम उद्यापन करने के लिए पैसा भी खर्च करती हैं और कराती हैं। साधुओं की वैयावृत्य भक्ति करती हैं। शक्ति के अनुसार यात्रा भी करती हैं। ज्ञान पचमी के रोज ग्रन्थों की, शास्त्रों की पूजा करके ज्ञान की आराधना की इतिश्री मान लेती हैं। हम लोगों को बचपन से धार्मिक शिक्षा भी मिलती है। सामायिक, प्रतिक्रमण आदि कंठस्थ कर लेती है। हम मे से कोइ कोइ कर्म ग्रन्थ आदि भी पढ लेती हैं।

इन सब बातों मे मुख्यतया हमारा धर्म समा जाता है। हमारा कुटुम्ब और समाज भी इसी को धर्म मानता है और इस धर्म की रक्षा का तथा पालन का भार अधिकतर स्त्रियो के उपर ही रखा हुआ है। हम भी इतना कर के अपने धार्मिक अभिमान को पुष्ट करती हैं।

पर हमे तो अभी यह सोचना है कि क्या इन धार्मिक आचरणों से स्त्रियों का जीवन सुखी है? क्या उनको इतने मे ही सन्तोष हो जाता है? यदि उनका जीवन सुखी हो, उन्हें सन्तोष मिल रहा हो, तब तो कुछ कहने की जरूरत

नहीं है। परन्तु हमें दीख रहा है कि ऐसा धर्माचरण करने पर भी उन का जीवन सुखी नहीं है, उन के जीवन में सन्तोष नहीं है। उपवास आदि सब तरह की धार्मिक क्रियाएँ करने पर भी उन की आँखों में आँसू कभी सूखता नहीं। उन के जीवन में आनन्द की जगह उदासी छाई हुई रहती है। किसी भी पुरानी या नयी वस्तु को ठीक ठीक जानने का और ग्रहण करने का न तो उन में उत्साह दिखलाई देता है और न उमंग। वे अपने जीवन के छोटे-बड़े किसी सवाल को हल नहीं कर सकतीं। कोई कठिन संकट उपस्थित हो तो धर्म के बल पर उस का सामना नहीं कर सकतीं। इतना ही नहीं बल्कि उस समय उन्हें अनाथता और निराधारता का अनुभव होता है। वे परम्परागत आचारों का पालन करती हुई निस्तेज सा अपना जीवन बिताती हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएँ करते रहने पर भी आपसी लड़ाई और ईर्ष्या-द्वेष दिना-दिन बढ़ता ही जाता है। धर्म का आदर्श विशाल बनाना तो दूर रहा, हम उसे समझने की कोशिश भी नहीं करतीं। छूने में दोष, खाने में दोष, जाने में दोष, मानो हम स्त्रियों के वास्ते सारा जगत ही दोषों की खान बन गया और हमारे लिए सिर्फ पारलौकिक सुख ही एक मात्र काम्य रह गया है। मुक्ति पाना ही एक मात्र आदर्श रह गया है, पर उसे पाने के लिए जो हमारा प्रयत्न है वह इतना अधूरा है कि हम उसे

प्रयत्न भी नहीं कर सकतीं। हमारा सारा आचार अज्ञान-मूलक होने से हम हमारे ध्येय से दिनों दिन दूर होती जाती हैं। हम कठिन से कठिन तपस्या करना तो चाहती हैं किन्तु अपना परिश्रम सफल कैसे हो, इस की चिन्ता नहीं करतीं। जीवन में आनन्द के स्थान पर उदासी छाई हुई रहती है पर धर्म और उदासी का कोई मेल नहीं है। धार्मिक जीवन तो वह है जिसमें उत्साह हो, प्रसन्नता हो, ज्ञान हो, दूसरों के प्रति आदर हो और कभी निराधारता न महसूस हो। इसी से विचार आता है कि तब वास्तविक धर्म क्या है ?

अपने शास्त्र में दो प्रकार का धर्म कहा गया है। एक श्रुतधर्म, दूसरा चारित्र-धर्म। दूसरे नाम से कहना हो तो एक को ज्ञान और दूसरे को आचरण के नाम से कह सकते हैं। श्रुतधर्म का अर्थ सिर्फ शास्त्रों को पढ़ना ही नहीं है। इसमें विचार का, मन का, दूसरों के प्रति व्यवहार का, और जितने भी प्रकार का ज्ञान है सब का समावेश हो जाता है।

जिन वस्तुओं को मननपूर्वक सोच—समझ कर अपने जीवन में उतारा जाता है, उनका चारित्र धर्म में समावेश होता है। जीवन में पहले श्रुतधर्म—ज्ञान धर्म आता है, बाद में चारित्र धर्म आता है।

हम स्त्रियों ने इन दोनों धर्मों का विपरीत क्रम रखा। हमने

पहले चारित्र धर्म को रखा और ज्ञान धर्म को तो छोड ही दिया। इस के फल स्वरूप हम ने चारित्र-धर्म के पालने में ही अपनी शक्ति खतम कर दी और जीवन में श्रुतधर्म आया ही नहीं और श्रुतधर्म के बिना चारित्र-धर्म की शुद्धि और सफलता कैसे आ सकती है ?

क्रियाओं का, आचारों का महत्व उनके पीछे की भावनाओं पर अवलम्बित है क्योंकि किसी वस्तु का मनन किए बिना उस को व्यावहारिक रूप देना मुश्किल है। धार्मिक क्रियाओं के मूल में सत्य की, अहिंसा की, निडरता की, निष्ठा की भावनाएँ रहीं और काल के अनुसार, देश की परिस्थिति के अनुसार और जनता के विचार-सामर्थ्य के अनुसार उन सब भावनाओं को व्यावहारिक रूप दिया गया परन्तु धार्मिक क्रियाएँ जितनी पुरानी होती जाती हैं, उन के पीछे का निश्चय और विचार-बल उतना ही दूर होता जाता है और उन का व्यावहारिक रूप यानी बाह्याडम्बर उतना ही बढ़ता जाता है। आज हमारे जीवन में मनन का श्रुत-धर्म का कोई स्थान नहीं है और इसीलिए चारित्र-धर्म का क्रिया-कलाप अधूरा ही रह गया।

मनन की शक्ति से, विचार के बल से चित्त निडर बनता है परन्तु हम में श्रुतधर्म न रहने के कारण हम बोलने में डरती हैं, कहीं अकेले जाने में डरती हैं, किसी नयी बात

का वरन मे हिचकिचाती हैं, हम मे कितनी शक्ति है इसका विचार नहीं करतीं। दूसरो की सोची हुई बातो को हम मानती हैं, दूसरे जो कराते हैं वही करती हैं। खुद सोच-समझ कर नयी और काम की बात नहीं अपनातीं। इससे जब कभी भी हम गलत राह पर जा सकती हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि जब तक हम स्त्रियां अपने बल पर खड़ी न होंगी, तब तक जीवन का कोई भी प्रश्न हल नहीं हो सकता है।

हमारे कर्त्तव्य रहने पर भी हम स्त्रियों का इस समय प्रथम कर्त्तव्य है अपना श्रुतधर्म का विस्तार। जब तक ज्ञान के द्वारा, अनुभव के द्वारा हम सभी समझ नहीं होंगी तब तक हम बाहरी उलझन में फँसी हुई रहेंगी। न कभी यह उलझन सुलझेगी और न हम साफल्य ही मिलेगा। उस पान के लिए ज्ञान की, विचार की ही जरूरत है। महान पुरुषों का कहा हुआ है, इसलिए यह स्वीकार्य है—इतना ही मात्र न सोच कर अपने जीवन में उसका क्या उपयोग है, यह भी हम स्वयं सोचना चाहिए। स्वयं सोची हुई बात का अनुसरण करने ही से विकास में अधिक मदद पहुंचती है। महान पुरुष भी कहते हैं "हम ने जो सोचा, कहा और आचार में उतारा, अन्धश्रद्धा से उसका अनुसरण न करो, उसे सोचो समझो और तुम्हें ठीक जचता हो तो उसे अपने जीवन में उतारो। इसी में तुम्हारा विकास है।"

श्रुतधर्म के विकास में जितनी भी बाधाएँ हैं, एक एक कर के सब को दूर करना होगा। सब से प्रथम बाधा अपने मन की है। पीढ़ियों के संस्कार से मन संकुचित और भीरू हो गया है। समाज की परिस्थिति के कारण किसी वस्तु को जानने का, समझने का सुयोग ही नहीं मिलता है। सौभाग्य से सुयोग मिल भी जाय तो इधर-उधर की व्यर्थ बातों में हम समय बरबाद कर देती हैं। न किसी बात को ध्यानपूर्वक सुनती हैं, न उस पर कुछ विचार करती हैं। मन की यह दुर्बलता जब तक दूर नहीं होगी, जब तक मन में जानने का आग्रह पैदा नहीं होगा, तब तक श्रुतधर्म का आना सम्भव नहीं है।

श्रुतधर्म के विस्तार का दूसरा बाधक पर्दा है। पर्दे के कारण हम यथारीति से शिक्षा नहीं मिलती। न हम किसी से मिल सकती हैं, न किसी से विचार-विनिमय कर सकती हैं। समाज के, देश के किसी भी काम में भाग नहीं ले सकती हैं। न मालूम किस अशुभ मुहूर्त में पर्दा प्रथा चल पड़ी थी कि आज इस विप्लवी परिवर्त्तन के युग में भी पर्दा नहीं उठा। इस के लिए पुरुष या नारी किस को दोष दिया जाय? हम स्त्रियां मन की दुर्बलता के कारण, नासमझी के कारण, शिक्षा के अभाव से इस पर्दा को उठा कर फेंक नहीं सकतीं। यह हमारे जीवन के विकास में कितना बाधक है, कितना हानि-

सफल बनाना होगा। साधारण भूमिका से हम ऊपर उठना ही होगा। यदि हम अमृत की पुत्री कहलाना हो तो सिर्फ घर-बार की सङ्कुचितता छोड़ कर अमरता की खोज करनी ही पड़गी। पुरुष जाति की तरह अपने कर्त्तव्य के लिए हमारा वर्ष तक अथक परिश्रम से तपस्या चालू रखना होगी। जब हम अमरता की पुजारिन हो कर अर्थात् कला में, साहित्य में, दर्शन में, विज्ञान में, अनुभूति में अपना असाधारण व्यक्तित्व रख कर, स्व पराक्रम से वासनाओं पर विजय पा कर, मानव कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर उस अमरता को, उस अविज्ञात वस्तु की खोज में जायेंगी, तभी हमारे जीवन में और धर्म में सच्चा तेज आयगा। और यही हम नारियों का धर्म है। इसमें हम सदा ही प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकती हैं कभी उदास, दीन और डरपोक नहीं।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म

[*वक्ता—पंडित दरबारीलालजी 'सत्यभक्त' वर्धा*]



जब आत्मा शरीर को छोड़ कर इस दुनिया में चक्कर लगाया करता है, तब उसे लोग भूत कहते हैं, उससे लोग डरते हैं - वह हमारे काम का नहीं रहता। जब शरीर आत्मा को छोड़ कर अलग पड़ जाता है, तब उसे मुर्दा कहते हैं, वह भी किसी काम का नहीं रहता। हिन्दू उसे जला देते हैं, मुसल-

---

नोट—कलकत्ते की पर्युषण व्याख्यानमाला में मेरे दो व्याख्यान हुए, पर कुछ कारणों से मुझे यह भ्रम हो गया कि ये दोनों व्याख्यान पुस्तकाकार न छापे जायेंगे। व्याख्यान के तीव्र प्रवाह के कारण

मान उस गाड दत है। इस प्रकार प्राण रहित शरीर और शरीर-रहित प्राण बिल्कुल बकाम हैं। यही हाल धर्म व निश्चय और व्यवहार रूपों का समझना चाहिये। व्यवहार-रहित निश्चय भूत है, निश्चय रहित व्यवहार मुर्दा है। निश्चय और व्यवहार—जहाँ दोनों का मिलन है, समन्वय है, वही जिन्दा धर्म कहा जा सकता है, वही हमारे काम का हो सकता है।

शरीर जैसे बदलता रहता है, उसी तरह व्यवहार भी बदलता रहता है, कभी कभी तो एक शरीर को छोड कर दूसरा

मेरे व्याख्यानों के नोट भी किसी ने नहीं लिये। इसलिये जब व्याख्यानों के लिपिबद्ध रूप की माँग मेरे सामने पेश हुई तब मैं बड़ असमंजस में पड़ा। अहिंसा के व्याख्यान के नोट थे इसलिये वह तो मैं लिख सका पर यह व्याख्यान न लिख सका। पर, श्री सिंघीजी का अनुरोध बराबर चालू रहा। अन्त में यह कहा गया कि इस विषय पर मैं अपने विचार संक्षेप में लिख दूँ। सो आज चार माह बाद इस विषय पर कुछ विचार प्रगट कर रहा हूँ। इसे पाठक व्याख्यान का लिखित रूप न समझें। उसके बाद और उसके पहिले मैंने इतने व्याख्यान दिये हैं कि याद में किसी भी तरह याद नहीं रख सका हूँ कि उस व्याख्यान में मैंने किस ढंग से क्या बात कही थी। हाँ भाषा शैली क्रम तथा परिमाण का भेद होने पर भी विचार वे ही हैं। —द० ला० सत्यभक्त

शरीर ग्रहण करना पड़ता है। इसी प्रकार कभी कभी व्यवहार में भी क्रान्ति करनी पड़ती है।

यद्यपि दुनिया में ऐसे आदमी भी हैं जो व्यवहार और निश्चय का समतौल रखते हैं, दोनों का समन्वय करते हैं पर बाकी आदमियों में कुछ भूत-पुजारी अर्थात् निश्चयैकान्तवादी हैं और कुछ मुर्दापरस्त अर्थात् व्यवहारैकान्तवादी हैं। दोनों ही धर्म की विडम्बना करते हैं। जैनत्व तो अनेकान्त में है। जो निश्चय या व्यवहार में एकान्तवादी हैं, वे जैनत्व नहीं पा सकते। बाप जैनी कहलाता था, इसलिये वे जैनी भले ही कहलावें पर सच्चे जैन नहीं हैं।

धर्म के निश्चय और व्यवहार—ऐसे दो भेद किये जाते हैं। निश्चय मूल धर्म है, व्यवहार या तो उसका फल है या उसका साधन है। निश्चय का कल्याण के साथ सीधा सम्बन्ध है, व्यवहार का परम्परा-सम्बन्ध है, निश्चय स्थायी है, व्यवहार परिवर्तनीय है। निश्चय और व्यवहार की तरफ इस तरह देखने से हमें उसका कुछ कुछ भान होने लगता है। इसी विचारधारा के अनुसार हमें धर्म के प्रत्येक अंग का निश्चय और व्यवहार रूप समझना चाहिये। जैसे, विनय एक धर्म है। किसी व्यक्ति के विषय में पूज्य बुद्धि रखने से उसके गुणों का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है, दूसरे लोग भी गुण का सत्फल देख कर गुणी बनने की तरफ झुकते हैं।

जिस के प्रति हम विनय करते हैं, उस का स्नेह हमें मिलता है, सहायता और सद्बोध हमें मिलता है, इसलिये हमें भी प्रसन्नता होती है। विनय का यह मतलब एक स्थायी वस्तु है। पर विनय के बाहरी रूप नाना हैं। कहीं पैर छूना, कहीं घुटन के बल झुक कर हाथ चूमना, कहीं टोप उठाना, कहीं सिर झुकाना, कहीं हाथ जोड़ना, आदि। ये रूप देश, काल और अपनी परिस्थिति के अनुसार बदल सकते हैं, बदलते रहते हैं। इस प्रकार विनय हुआ निश्चय धर्म, उसको प्रगट करने के लिये बाह्याचार हुआ व्यवहार धर्म। बाह्याचार बदलता है, पर कोई न कोई रूप रहता है। अब अगर कोई यह व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं है, हमें तो निश्चय ही चाहिये तो व्यवहार शून्य उसका निश्चय न तो हो ही सकता है, न रह सकता है। इसी प्रकार कोई कहे कि निश्चय की कोई जरूरत नहीं है तो निष्प्राण शिष्टाचार व्यर्थ का बोझ बन कर रह जायगा। यही बात हरएक धर्म के विषय में है। यहां विनय और शिष्टाचार का उल्लेख तो मैंने एक उपमान के रूप में किया है।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म क्या है? यह जानना हो तो पहिले यह जानना चाहिये कि धर्म का ध्येय क्या है। पंडिताई दिखाने के लिये इस विषय में बहुत सी बातें कही जा सकती हैं, पर एक सीधी सी बात यह है कि जगत के

जीवों को सुखी बनाने के लिये और दुख से दूर करने के लिये धर्म है। इस काम में जिस का सम्बन्ध निश्चित है, वह तो निश्चय धर्म है और जो उसका सामयिक या व्यवहारी रूप है, वह व्यवहार धर्म है।

क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग, निःस्वार्थ वृत्ति, परोपकारशीलता, न्यायपरायणता, अवस्था-समभाव, जाति-समभाव, धर्म-समभाव आदि ऐसी वृत्तियां हैं जिन से हम भी दुख से छूट कर सुखी हो सकते हैं और दूसरे भी। सुख के लिये इन की जरूरत सदा निश्चित है, इसलिये यह निश्चय धर्म है। परन्तु क्रोध आदि को दबाने के लिये जो जो प्रयत्न किये जाते हैं, परोपकार के लिये दान आदि जो काम किये जाते हैं, इसी प्रकार और भी अनेक निश्चय धर्मों के लिये जो जो कार्य किये जाते हैं या निश्चय धर्म प्राप्त हो जाने पर जो जो कार्य स्वाभाविक ढंग से होने लगते हैं, वे व्यवहार धर्म हैं। जहां निश्चय धर्म है, वहां उस का कोई न कोई व्यावहारिक रूप भी अवश्य है। इसलिये जो लोग यह कहते हैं कि 'व्यवहार छोड़ो, निश्चय को प्राप्त करो' वे ठीक नहीं कहते, उन्हें यह कहना चाहिये कि 'व्यवहार को निश्चय के अनुकूल बनाओ, व्यवहार को निश्चय वाला बनाओ। व्यवहार में विवेक से इस तरह काम लो कि वह निश्चय को प्राप्त करा सके।

विवेक हीन व्यवहार बहुत हास्यास्पद चीज है। इस से हमारी शक्ति बहुत बर्बाद होती है। बहुत कुछ करके भी हम कुछ नहीं कर पाते।

एक माँ ने अपने बेटे से एक बार कहा, बेटा, इस तरह घर में बैठने से काम न चलेगा, बाजार जा, कुछ मिहनत कर, पसीना बहा, तब पैसा मिलेगा।

आज्ञाकारी बेटा बाजार में चला गया और एक जगह दंड बैठक लगाता रहा। यहाँ तक कि खूब पसीना बहने लगा पर पैसा न मिला। निराश और दुखी हो कर घर आया, माँ को उलहना देने लगा कि मैं तेरे कहने से बाजार गया पसीना बहाया पर एक भी पैसा न मिला।

निश्चय को छोड़ कर व्यवहार के पुजारी—रूढ़ियों के गुलाम धर्म को ऐसा ही उलहना देते हैं। वे विवेक हीन हो कर बहुत कुछ करते हैं, महामुनि और महाश्रावक बन जाते हैं पर कल्याण के नाम से कुछ नहीं पाते।

आज जैनियों के भीतर दिगम्बर श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि विविध सम्प्रदाय हैं, एक दूसरे को वे मिथ्यात्वी आदि कहते हैं, आपस में लड़ते हैं, दलबन्दियाँ करते हैं—यह सब मुर्दापरस्ती अर्थात् निश्चयहीन व्यवहार का फल है। अगर निश्चय के द्वारा वे व्यवहार को प्राणवान बना लें, तो इन

सब सम्प्रदायों की सब बातें रहते पर भी ये सम्प्रदाय न रहें इन में साम्प्रदायिक कट्टरता न रहे।

एक निश्चय के व्यावहारिक रूप अनेक हो सकते हैं। अपनी अपनी रुचि और परिस्थिति के अनुसार उन में से एक का या बहुत का उपयोग किया जा सकता है। देखना यह चाहिये कि वे व्यावहारिक रूप को निश्चय की तरफ ले जाते हैं या नहीं, यदि नहीं ले जाते हैं, तो सब झूठ है और ले जाते हैं, तो सब सच्चे हैं। यह अनेकान्त दृष्टि अगर हमें मिले तो धर्म के नाम पर हमारे चिथड़े-चिथड़े न बनें। हमारे अनेक रूप एक दूसरे के पूरक बनें, छेदक और भेदक न बनें।

जो निश्चय को पा लेते हैं, उन्हें व्यवहार के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह आप से आप आ जाता है। प्राण अपने लिये शरीर ढूँढ़ ही लेता है पर मुश्किल यह है कि हम में से कुछ लोग निश्चय का ढोंग करते हैं, अपनी अकर्मण्यता और स्वार्थवृत्ति छिपाने के लिये आवश्यक व्यवहार से भागते हैं और आलस्य की पूजा करते हैं। और समझते हैं कि हम ने निश्चय पा लिया।

निश्चय के नाम पर दम्भ करने वाले लोगों की इस देश में कमी नहीं है। करीब साठ लाख आदमी निश्चय की ओट में इस देश की छाती पर सवार हैं। उन के बोझ से हम कराह रहे हैं, पर मूढ़तावश कुछ कह नहीं सकते क्योंकि ये

अपने को साधु कहते हैं और साधु इसलिये हैं कि बेजिम्मेदार हैं, मुफ्तखोर भी हैं।

साधु तो वह है जो जगत से कम से कम लेता है और अधिक से अधिक देता है, शरीर-पोषण के लिये जो कुछ लेते हैं, उसकी कीमत चुकाते हैं या कभी की चुका चुके हैं। साधु की परिभाषा मैंने यही बनाई है। इस परिभाषा के अनुसार भी साधु हैं और सभी सम्प्रदायों में हैं, पर उन्हें तो साठ लाख से अलग ही समझना चाहिये। उनको साधु समझने वाले, उनकी साधुता का देखने वाले लोग इनेगिने ही हैं। खैर कहने का मतलब यह है कि अकर्मण्यता और बेजिम्मेवारीपन निश्चय धर्म नहीं है।

एक व्यवहार को छोड कर दूसरा व्यवहार पकडना ठीक हो सकता है, पर व्यवहार की सब सुविधाएँ पाते हुए भी व्यावहारिक जिम्मेदारी से भागते रहना और फिर निश्चय की दुहाई देना पूरी वञ्चना है। ऐसे लोग निश्चय और व्यवहार को समझे नहीं हैं।

बहुत से लोगों ने भ्रमवश या स्वार्थवश निश्चय और व्यवहार की परिभाषा में भी ऐसी गडबडी कर रक्खी है कि जिस से उन्हें अपनी अकर्मण्यता छिपाने में पूरी सुविधा होती है। उन्होंने निश्चय का अर्थ निवृत्ति और व्यवहार का अर्थ प्रवृत्ति कर लिया है, जब कि निवृत्ति—प्रवृत्ति से निश्चय—

व्यवहार का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। निश्चय में भी निवृत्ति और प्रवृत्ति है, व्यवहार में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति है। मिथ्यात्व से आप निवृत्त हुए कि सम्यक्त्व में प्रवृत्त हुए, मिथ्यात्व का आचार गया कि दर्शनाचार आया। धर्म बिलकुल निषेधात्मक नहीं है, उसका विधि रूप भी है। चारित्र चित्शक्ति का एक रूप है, केवल निषेधात्मक ही चारित्र होता, कषाय त्याग या दुराचार का त्याग ही यदि चारित्र होता, विश्व-प्रेम सदाचार आदि उसका विधि रूप या प्रवृत्ति रूप कुछ न होता तो इस पंडाल में लगे हुए सब से बड़े चारित्रवान् होते। निवृत्त्येकान्त अकर्मण्यता है, जड़ता है, इस तरह वह हैवानियत है। इसी प्रकार प्रवृत्त्येकान्त निरालिता है, पागलपन है, इसलिये वह शैतानियत है।

जिन लोगों ने अपने जीवन का ऊँचे से ऊँचा विकास किया है, जो धर्म के मर्मज्ञ, पूर्णज्ञ और इसी लिये सर्वज्ञ कहे जाते हैं, उन अरहन्तों में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का जोड़ा तथा उनका समन्वय पाया जाता है। उन से बढ़ कर निश्चय धर्म का पाने वाला और कौन होगा, पर जीवन भर वे प्रवृत्त रहते हैं और वह प्रवृत्ति भी ऐसी-वैसी नहीं, किन्तु कूर्मापुत्र सरीखे केवलियों के ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिन्होंने केवलज्ञान होने पर भी घर में रह कर माता-पिता की सेवा की थी। इस से मालूम होता है कि निश्चय

धर्म की सीमा पर पहुच कर भी जैन धर्म के अनुसार मनुष्य विश्व हित के लिये, अपनी जिम्मेवारी पूरी करने के लिये, कितनी प्रवृत्ति कर सकता है। यह प्रवृत्ति सिर्फ उस समय बन्द होती है, जब मरने के लिये एक मिनट से भी कम समय रह जाता है जिसे चौदहवाँ गुणस्थान कहते हैं। शरीर-धर्म के अनुसार भी यह निश्चेष्टता स्वाभाविक है।

इस प्रकार सम्यक् चारित्र में, निश्चय और व्यवहार के समन्वय में, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो का स्थान है। जैन धर्म का अनेकान्त इसलिये नहीं है कि हम वाद विवाद में इस पक्ष से उस पक्ष मे और उस पक्ष से इस पक्ष में कूद कर आत्मरक्षा किया करें, किन्तु वह इस में है कि हम सम्यक् चारित्र के लिये उसका उपयोग करें। सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र के लिये है, अनेकान्त सम्यग्ज्ञान का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, उस के बिना सम्यक्-चारित्र नहीं हो सकता और अगर वह सम्यक्-चारित्र के काम में नहीं आता तो उसका पढ़ना – न पढ़ना एक सा ही है।

निश्चय और व्यवहार, इन दोनों का स्वरूप हमे ठीक ठीक समझना चाहिये और उनका समन्वय करना चाहिये जिससे ऐहिक और पारलौकिक दोनो प्रकार से हमारी उन्नति हो, समाज में सुव्यवस्था हो और व्यक्तिगत रूप से जीवन का ऊँचे से ऊँचा विकास हो। धर्म की उपयोगिता इसी में है, चाहे वह निश्चय हो या व्यवहार।



श्री काका कालेलकर

[चित्रकार—इ द दुगड़

अहिंसा के तीन ऋषि

[वक्ता—श्री काका कालेलकर, वर्धा]

बुद्ध भगवान असाधारण कलाधर थे। उन के जीवन में और उन के उपदेश में उच्च कलातत्व पाया जाता है, और यही कारण है कि दुनिया भर के संस्कारी लोग बौद्ध धर्म के प्रति और बौद्ध साहित्य के प्रति इतने आकर्षित हुए हैं। बुद्ध भगवान का जीवन भी इतना कलापूर्ण है कि भिन्न भिन्न देश के कवि और नाटककार बुद्ध की जीवन-कथा को लेकर अपनी कवित्व शक्ति आजमाने के लिये लालायित हो उठे हैं।

न्तो सिरो को छोड़ कर मध्यम मार्ग लेने की बुद्ध भगवान की नसीहत इसी वलावृत्ति की द्योतक है। और फ़िलसूफ़ अरिस्टोटल और बुद्ध भगवान में यह बड़ा साम्य है कि न्दोनो सम्यक् दृष्टि और सम्यक्-जीवन पर इतना जोर देत है।

बुद्ध भगवान ने अहिंसा का पुरस्कार किया, किन्तु उन्होंने मांसाहार का निषेध नहीं किया। उन की अहिंसा मनुष्य मनुष्य के बीच 'अवर' भावना रखने तक ही सीमित थी। पशु हिंसा के बारे मे व इतना ही कहत थ कि धर्म के नाम से—बलिदान के तौर पर—पशु हत्या न करो। साधुओ को व कहत थ कि अपने आहार के लिये किसी को पशु न मारने दो।

बुद्ध भगवान जन्मत क्षत्रिय थ, स्वभाव से प्रचारक ब्राह्मण थ, किन्तु उन के जीवन में और उन की जीवन दृष्टि म प्रधानता व्यवहारात्मकता की ही है।

(७)

महात्मा गांधीजी भी अहिंसा के पुरस्कर्ता है। अहिंसा का सदेश भारतवर्ष ने वैदिक काल से सुना है, और सुनाया भी है। अहिंसा गांधीजी का कोई नया आविष्कार नहीं है, तो भी गांधीजी का अहिंसा दर्शन उनका निजी है, बिल्कुल

नया है और आज की दुनिया के लिये अत्यन्त व्यापक और सार्वभौम है।

अगर बुद्ध भगवान जीवन के कलाकार हैं तो गांधीजी जीवन के दृष्टा हैं। उन के जीवन में कला का तत्व पूर्णतया भरा हुआ है, तो भी उस का पुरस्कार वे परिमित मात्रा में ही इसलिये करते हैं कि उन की क्रांतिकारी युद्धयमान प्रवृत्ति में वह बाधक न हो। गांधीजी शांति के भक्त हैं किन्तु निरी शांति के उपासक नहीं हैं। वे सब जगह अहिंसक युद्ध चाहते हैं। रचनात्मक कार्य के सब से बड़े आचार्य ने असल में योद्धा ही हैं।

बुद्ध भगवान ने युद्ध की विफलता दुनिया को समझाई लेकिन युद्ध संस्था का विरोध न किया। तो भी बुद्ध भगवान का रुख वैर-त्याग की ओर ही था। उन का एक वचन आज के सारे यूरोप के लिये ध्यान में रखने लायक है। "जय वेर पसवति, दुख सेत पराजितो"—किसी पर विजय पायी तो उस में से वैर बढ़ता ही है, क्योंकि जिस की हार हुई, उसे सुख से नींद नहीं आती है। वह बदला लेने की नीयत से सवाई तैयारी में लग जाता है।

गांधीजी ने अहिंसा को मनुष्य-जीवन में सार्वभौम बनाना चाहा है। मनुष्य-जाति की संस्थाएँ, उस के जीवन के आदर्श और उस की विचारधारा, सब ही में व क्रांति

करना चाहते हैं। गांधीजी का युद्ध-विरोध उन के जीवन के साथ गहरा होता जाता है। वे जीवन कलाधर होने के कारण परिस्थिति के साथ अपना सामंजस्य करना जानते हैं।

(३)

महावीर स्वामी बुद्ध भगवान के समकालीन होते हुए भी उन की अहिंसा उन के जमाने के लिये नहीं थी। कठिन समय आ पड़ने पर मनुष्य मांस को भी हजम करने वाला वह जमाना था। और ऐसे जमाने में उन्होंने उपदेश दिया कि पशुपक्षी आदि की तो बात ही और, लेकिन वनस्पति में और जड़ सृष्टि में भी जान है और उस के प्रति भी हमें अहिंसा धर्म का पालन करना है।।

भगवान महावीर जीवन के तपस्वी थे। उन्होंने अहिंसा के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने की और समझाने की कोशिश की, और इस के साथ यह भी अनुभव किया कि तपस्या के बिना हम न तो अहिंसा को समझ सकते हैं, न उसका पालन ही कर सकते हैं।

यह तपस्या किस ढंग की होनी चाहिये, इस के भी प्रयोग और आविष्कार होने चाहिये। अहिंसा का साक्षात्कार क्रम मुक्ति के जैसा दिन ब दिन बढ़ने वाला है। और सच्ची तपस्या का स्वरूप निर्णय भी प्रयोग से ही सिद्ध होने वाला है।

* * * *

आज कल की दुनिया अक्सर तपस्या से घबड़ाती है। तपस्या पर वह विश्वास नहीं रखती, और जहां तक सभव हो, तपस्या के बिना ही चलाना चाहती है।

इधर पुरानी दुनिया तपस्या के पुराने ढग को ही ले कर बैठी है। वह अब भी नहीं समझती कि सिर्फ कायक्लेश या शरीर पीडन कोइ तपस्या नहीं है। तपस्या को वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से समझने की जरूरत है। तपस्या का शुद्ध स्वरूप जब निश्चित होगा, तब अहिंसा का विकास पूरे वग से होगा।

महावीर के सन्देश को पूर्णतया अमल मे लाने का जमाना अभी तक नहीं आया है। लेकिन वह आये बिना रहने वाला भी नहीं है क्योंकि अहिंसा के बिना—सम्पूर्ण अहिंसा के बिना—जीवन सम्पूर्णतया कृतार्थ नहीं होगा।

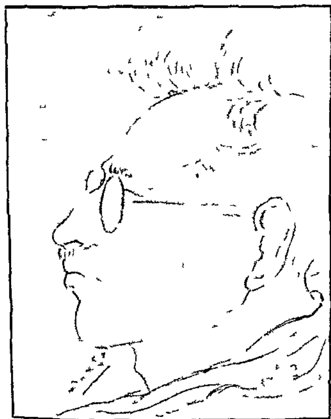
उस के लिये बुद्ध भगवान का अष्टांगिक मध्यम मार्ग, गाधीजी का लडाका सत्याग्रह और महावीर की आत्मशक्ति बढ़ाने वाली तपस्या, यह त्रिविध शक्ति या साधना सिद्ध करनी होगी।

जैन साहित्य

[वक्ता—पंडित हजारीप्रसादजी द्विवेदी, शांतिनिकेतन (बोलपुर)]



आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीर ने साधना का जो प्रदीप जलाया था, वह आज भी प्रकाश बिखेर रहा है। सहस्राब्दियाँ बीत गई हैं, भारतवर्ष के भाग्याकाश में बहुत से धूमकेतु आये हैं और गये हैं, देशी और विदेशी उत्पातों की अनेक कालरात्रियाँ आई हैं और जाई हैं, बर्बर और अर्ध सभ्य जातियों के अत्याचार से कितनी ही बार वायुमंडल निष्पित हुआ है और कायर तथा स्वार्थान्ध शासकों की जड़िमा से देश की आत्मा सिकुड़ गई



पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी

[चित्रकार—इन्द्र दूगड़

है, फिर भी वह अखण्ड ज्ञान-ज्योति जलती रही है। यद्यपि दूर है, तथापि मैं उस काल को स्पष्ट देख रहा हूँ—जब बर्बर हूणों ने इस शान्तिप्रिय देश को भस्मस्तूप में परिणत कर दिया था, जब नगरियां विध्वस्त हो गई थीं, जब शस्यक्षेत्रों पर आग की लहरें नाचा करती थीं, जब शांति और अहिंसा की कल्पना भी असम्भव मालूम होती थी। उस दारुण सर्वनाश को लक्ष्य कर ही मानो भारतवर्ष के अमर कवि कालिदास ने गाया था कि जिन नगरियों के राजपथ अभिसारिकाओं के नूपुर निनाद से मुखरित हुआ करते थे, वहां सियार रो रहे थे, जिन पुष्करिणियों में नागरिकाओं की जल क्रीडा के समय के मृदंग घोष से मधुर, गंभीर ध्वनि उठा करती थी, उन्हें जगली भैंसे अपने सींगों से गन्दला कर रहे थे, महलों के काठ के खंभों पर जो मूर्तियां उत्कीर्ण थीं, वे धूल और धुँए से मलिन हो गई थीं और उन पर सांप की केंचुल चादर की तरह लटकी हुई थीं, राजप्रासादों की दीवार फट गई थीं और उनमें तृणांकुर निकल आये थे, उद्यान-लताएं वानरों के द्वारा बुरी तरह छिन्न भिन्न कर के मसल दी गई थीं और वे गवाक्ष जो रात में दीपक की ज्योति से और दिन में गृह लक्ष्मियों की मुख श्री से उद्भासित न हो सकने के कारण श्रीहीन हो गये थे, मकडियों के जालों से ढक दिये गये थे—

राज्यावनाविस्कृत दीप भास कान्ता मुखश्री वियुता दिवापि
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तु जालै विच्छिन्न धूम प्रसरा गवाक्षा ।

इस प्रकार देश के बड़े बड़े नगर वीरान हो गये थे। इसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी जबर्दस्त हुई। राष्ट्रीयता की उमग आई। गुप्त सम्राटों का उत्थान हुआ। समाज की नई व्यवस्था हुई। विदेशी शत्रु और विदेशी रग ढग सावधानी से उखाड कर फेंक दिये गये। और साथ ही साथ विदेशियों को आश्रय देने वाले धर्म के प्रति भी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। जब सब कुछ हिल गया, जब सब कुछ नवीन जोश के लपट में आ गया तब भी जो साधना की ज्योति अपने पूर्ण रूप में ही उसी तेजस्विता के साथ जलती रही, उस अखण्ड प्राणमयी ज्योति को मैं नमस्कार करता हूं।

भगवान महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में जब मगध में घोर अकाल पड़ा था, उस समय अन्नाभाव के कारण लोग बुरी तरह व्याकुल हो गये थे, और आचार्य भद्रबाहु भी अपने बहुत से शिष्यों सहित कर्णाट देश में चले गये थे। जो लोग मगध में रह गये थे, उनके नेता आचार्य स्थूलभद्र हुए। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रथ बताते हैं कि महावीर स्वामी ने जो उपदेश दिया था उसे उन के दो प्रधान शिष्यों, इन्द्र भूति और सुधर्मा ने, जो गणधर कहलाते थे, व्यवस्थित और सकलित करने का कार्य किया। यह सकलन बारह अगों में विभक्त होने के कारण 'द्वादशागी' कहलाता है। जब मगध के बारह वर्ष वाले अकाल के समय आचार्य

भद्रबाहु अपने कई सुयोग्य शिष्यो सहित बाहर चले गये तो मगध मे बच रहे शिष्यो और आचार्य स्थूलभद्र को द्वादशागी के लुप्त हो जाने का डर हुआ। इसलिये उन्होने महावीर-निर्वाण के १६० वर्ष बाद पाटलीपुत्र मे श्रमण सघ की सभा बुलाई। वहाँ सब के सहयोग से सप्रदाय के मान्य तत्वो का ग्यारह अगो मे सकलन किया गया। यह सग्रह 'पाटलीपुत्र-वाचना' कहलाता है। १२ वे अङ्ग दृष्टि-वाद के १४ भागो मे से, जिन्हें पुन्व या 'पूर्व' कहते थे, अन्तिम चार पूर्व नष्ट हो चुके थे। फिर भी जो कुछ याद था, उसे सग्रह कर लिया गया।

वर्षो बाद जब आचार्य भद्रबाहु लौटे तो उन्होने देखा कि उन के साथ इस दल का बडा मत-भेद है। जो लोग मगध मे रह गये थे वे वस्त्र पहनने लगे, परन्तु भद्रबाहु और उनके शिष्य कडाई के साथ पूर्ववर्ती नियमो का ही पालन करते रहे। जान पडता है, यहीं से जैन धर्म के दो प्रधान सप्रदाय श्वेताम्बर और दिगबर हमेशा के लिये अलग हो गये। भद्रबाहु और उनके शिष्य दिगबर कहलाये और स्थूलभद्र और उनके शिष्य श्वेताम्बर। फल यह हुआ कि दिगबरो ने 'पाटलीपुत्र-वाचना' के सकलनो को अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि असली 'अङ्ग पूर्व' तो लुप्त हो गये हैं।

समय बीतता गया और यद्यपि जैन धर्म नाना उत्थान प्रत्युत्थान के भीतर से गुजरता रहा, परन्तु जैन शास्त्रों की सुव्यवस्थितता बनी नहीं रहा। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ ही दिनों में उन में ऐसी अव्यवस्था आ गई कि आचार्यों को फिर से उक्त संकलन की सुव्यवस्था की सोचनी पड़ी। महावीर निर्वाण की छठी शताब्दी में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में फिर एक बार श्वेताम्बर आचार्यों की सभा हुई। यह सभा मथुरा में हुई थी। इस द्वितीय उद्धार के प्रयत्न को 'माथुरी वाचना' कहते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिये कि इस दूसरी बार के प्रयत्न में भी आगे चल कर कुछ शैथिल्य अनुभव किया जाने लगा। महावीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी के आसपास, आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले काठियावाड़ की वल्लभी नगरी में तीसरी सभा बुलाई गई। इसके नेता देवर्धि गणि थे। यही उन दिनों सम्प्रदाय के गणधर थे। इस सभा में फिर से ग्यारह अंगों का संकलन हुआ। बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' तो इसके पहले ही लुप्त हो चुका था। आजकल के उपलब्ध अंग इस अन्तिम बार के ही प्रयत्न कहे जाते हैं।

इस प्रकार जमाने के आघात ने जब जब जैन शास्त्रों को लुप्त होने की ओर ढकेल दिया, तब तब अध्यवसायी धर्म प्रेमी आचार्यों ने उन्हें बचा लेने की कोशिश की। बौद्ध लोगों

व धर्म शास्त्रों के विषय में भी ऐसी सभाओं या संगीतियों की चर्चा मिलती है। पहले जो कुछ कहा गया है, उससे काफी स्पष्ट हो जाता है कि अंगों का वर्तमान आकार आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले का संगृहीत है और इसीलिये निश्चय ही महावीर स्वामी से बहुत बहुत बाद का है। यह संभव है कि इन शास्त्रों में भी ऐसी बहुत सी बातें मिल गई हों जो महावीर स्वामी के बाद की हों जैसा कि हम बौद्ध संगीतियों के संकलनों में कभी कभी पाते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन में प्राचीन अंश हैं ही नहीं। सही बात यह है कि संग्रह और संकलन जब कभी भी क्यों न हुआ हो, उसमें निश्चय इस बात का ही अधिक प्रयत्न किया गया होगा कि प्राचीन अंश सुरक्षित रखे जायं, यह नहीं कि नई बातें मिलाई जायं। इसलिये जो बात निस्सन्देह कही जा सकती है, वह यह है कि इन अङ्गों में प्राचीन अंश काफी अधिक मात्रा में हैं। यद्यपि अङ्ग ग्रंथों की भीतरी गवाही के बल पर पंडितों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इन में के बहुत से स्पष्ट ही महावीर स्वामी के बाद के आचार्यों के लिखे हुए हैं। यह ध्यान देने की बात है कि आर्य सुधर्म, आर्य श्याम और भद्रबाहु आदि महावीर स्वामी के परवर्ती अनेक आचार्य अङ्गों और उपांगों के रचयिता माने जाते हैं।

बारह अङ्ग, बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छ छेदसूत्र, चार मूलसूत्र और दो अन्य ग्रंथ—नंदि सूत्र (नंदि सुत्त) और अनुयोग द्वार (अणुयोगदार) इन समस्त सिद्धान्त ग्रंथों में जैन मत का स्थापन और विरुद्ध मत का खण्डन और जैन परम्परा की कहानियां निहित हैं। इनमें कितने ही न केवल अत्यन्त प्राचीनता के चिन्ह लिये हुए हैं बल्कि प्राचीनतम भारतीय विद्वानों के समान के अद्वितीय साधन हैं। बारह उपांगों में से दो सूर्य प्रज्ञप्ति और चन्द्र प्रज्ञप्ति (जो वस्तुतः मिलती जुलती पुस्तक हैं) संसार के ज्योतिषिक साहित्य में अपने विचित्र और अनन्य साधारण सिद्धान्त के लिये काफी महत्त्व पूर्ण हैं। इन के अनुसार आकाश में मौजूद सारे ज्योतिष्क पिण्ड दो दो हैं। अर्थात् दो सूर्य हैं, दो चन्द्र हैं, दो दो सभी नक्षत्र। गणना की दृष्टि से इनके साथ एक मात्र तुलनीय ग्रंथ लागध मुनि का 'वेदांग ज्योतिष' है। ये सन् ईसवी के पूर्व की भारतीय ज्योतिषिक चिन्ताओं के अपूर्व निदर्शक हैं। सब मिला कर जैन सिद्धान्त ग्रंथों में बहुत सी ज्ञातव्य और महत्त्वपूर्ण सामग्री बिखरी पड़ी है।

अभी तक मैं जो बात कहता रहा, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य समझे जाने वाले सिद्धान्त ग्रंथों की रही। दिगम्बर परम्परा और तरह की है। उन के मत से भगवान महावीर की दिव्यवाणी को अवधारण कर के उनके प्रथम शिष्य

इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने अङ्ग पूर्वों की रचना की थी। उन्होंने अपने साधर्मी सुधर्मा (लोहार्य) को और उन्होंने जबू स्वामी को दिया। जम्बूस्वामी से अन्य मुनियों ने उसे सीखा। यह सब कुछ महावीर स्वामी के जीवन काल में ही हुआ। इसके बाद पाँच श्रुतकेवलियों का आविर्भाव हुआ। वे हैं—विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु। इन्हें सभी अङ्ग-उपांगों का पूर्ण ज्ञान था। महावीर-निर्वाण के छ वर्ष बाद तक जम्बूस्वामी का और उनके सौ वर्ष बाद तक भद्रबाहु का समय है। अर्थात इस दूसरी परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष बाद तक अङ्ग और पूर्वों का अस्तित्व निःसंदिग्ध था। इस के बाद वे क्रमशः लुप्त होते गये और महावीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तो वे इस प्रकार से सर्वथा ही लुप्त हो गये। अन्तिम अङ्गधारी लोहार्य (द्वितीय) बताये जाते हैं जिन्हें सिर्फ एक आचारांग का ही ज्ञान था।

इस के बाद अङ्ग और पूर्वों के एक देश के और एक देश के भी एक अंश के ज्ञाता आचार्य हुए। इन में धरसेनाचार्य जो सौराष्ट्र के निवासी थे, विशेष उल्लेख्य हैं। कहते हैं, इन्हें अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तुगत महाप्राभृत का ज्ञान था। इन्होंने अपने अन्तिम काल में आन्ध्र देश से भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो शिष्यों को बुला कर पढ़ाया और तब

इन शिष्यों ने लगभग विक्रम की दूसरी शताब्दी में षट् खण्डागम तथा कषाय प्राभृत सिद्धान्तों की रचना की। ये सिद्धान्त-ग्रंथ बड़ी विशाल टीकाओं के सहित अब तक सिर्फ कर्णाटक के मूडबिद्री नामक स्थान में सुरक्षित थे, अन्यत्र कहीं नहीं थे। कुछ ही समय हुआ इन में से दो टीका ग्रन्थ धवला और जय धवला बाहर आये हैं और उन में से एक वीरसेनाचार्य कृत धवला टीका का प्रकाशन आरम्भ हो गया है। इस टीका के निर्माण का समय शक संवत् ७३८ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप पण्णत्ति को उपांग माना है, और दिगम्बरों ने इन की दृष्टिवाद के पहले भेद परिकर्म में गणना की है। इसी तरह श्वेताम्बरों के अनुसार जो सामायिक, सस्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण दूसरे मूलसूत्र आवश्यक के अंश विशेष हैं, उन्हें दिगम्बरों ने अङ्ग-बाह्य के चौदह भेदों में गिनाया है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नामक ग्रंथ भी अङ्ग-बाह्य हैं। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य भेद श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी माने गये हैं और उपांग एक तरह से अङ्गबाह्य ही हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में उपांग भेद का उल्लेख नहीं है।

परन्तु उक्त अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रंथों के दिगम्बर सम्प्रदाय में सिर्फ नाम ही नाम हैं इन नामों के कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। उनका कहना है कि वे सब नष्ट हो चुके हैं।

दिगम्बरों ने एक दूसरे ढंग से भी समस्त जैन साहित्य का वर्गीकरण कर के उसे चार भागों में विभक्त किया है— (१) प्रथमानुयोग जिसमें पुराण पुरुषों के चरित और कथा-ग्रंथ हैं—जैसे, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, त्रिषष्ठिलक्षण महापुराण (आदि पुराण और उत्तर पुराण)। (२) करणानुयोग, जिसमें भूगोल खगोल का, चारों गतियों का और काल-विभाग का वर्णन है—जैसे, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य-चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि। (३) द्रव्यानुयोग जिसमें जीव अजीव आदि तत्वों का, पुण्य पाप, बन्धन मोक्ष का वर्णन है, जैसे कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, उमास्वातिकाय तत्वार्थागम आदि। (४) चरणानुयोग जिसमें मुनियों और श्रावकों के आचार का वर्णन हो, जैसे वट्टकेर का मूलाचार, आशाधर का सागार-अनागार धर्मामृत, समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि। इन चार अनुयोगों को वेद भी कहा गया है।

सिद्धान्तोत्तर साहित्य

देवर्धिगणि के सिद्धान्त ग्रन्थ-संकलन के पहले से ही जैन आचार्यों के ग्रन्थ लिखने का प्रमाण पाया जाता है। सिद्धांत-ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें निश्चित रूप से किसी आचार्य की कृति कहा जा सकता है। बाद में तो ऐसे ग्रन्थों

की भरमार हो गयी। साधारणत ये ग्रन्थ जैन प्राकृत में लिखे जाते रहे पर संस्कृत भाषा ने भी सन् ईसवी के बाद प्रवेश पाया। कई जैन आचार्यों ने संस्कृत भाषा पर भी अधिकार कर लिया, फिर भी प्राकृत और अपभ्रंश को त्यागा नहीं गया। संस्कृत को भी लोक सुलभ बनाने की चेष्टा की गई। यह पहले ही बताया गया है कि भद्रबाहु महावीर स्वामी के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में वर्त्तमान थे। कल्प-सूत्र उन्हीं का लिखा हुआ कहा जाता है। दिगम्बर लोग एक और भद्रबाहु की चर्चा करते हैं जो सन् ईसवी से बारह वर्ष पहले हुए थे। यह कहना कठिन है कि कल्पसूत्र किस भद्रबाहु की रचना है। कुन्दकुन्द ने प्राकृत में ही ग्रन्थ लिखे हैं। इन के सिवाय उमास्वामी या उमास्वाति, वट्टकेर, सिद्धसेन दिवाकर, विमल सूरि, पालित्त आदि आचार्य सन् ईसवी के कुछ आगे पीछे उत्पन्न हुए, जिन में से कई दोनों सम्प्रदायों में समान भाव से आदृत हैं। पांचवीं शताब्दी के बाद एक प्रसिद्ध दार्शनिक और वैयाकरण हुए जिन्हें देवनन्दि (पूज्यपाद) कहते हैं। सातवीं आठवीं शताब्दी भारतीय दर्शन के इतिहास में अपनी उज्ज्वल आभा छोड़ गई। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट का जन्म इन्हीं शताब्दियों में हुआ, जिन्होंने बौद्धों और जैन आचार्यों (विशेषकर समन्तभद्र और अकलंक) पर कटु आक्रमण किया तथा बदले में जैन

आचार्यों (विशेषरूप से प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द) द्वारा प्रत्याक्रमण पाया। इन्हीं शताब्दियों मे सुप्रसिद्ध आचार्य शङ्करस्वामी हुए जिन्होने अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की। इस शताब्दी म सर्वाधिक प्रतिभाशाली जैन आचार्य हरिभद्र हुए जो ब्राह्मण वश म उत्पन्न हो कर समस्त ब्राह्मण शास्त्रो के अध्ययन क बाद जैन हुए थे। इन के लिखे हुए ८८ ग्रथ प्राप्त हुए है जिनमे बहुत से छप चुके है।

बारहवीं शताब्दी मे प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने दर्शन, व्याकरण और काव्य तीनो म समान भाव से कलम चलाई। इन नाना विषयो मे, नाना भाषाओं मे और नाना मतो मे अगाध पांडित्य प्राप्त करनेके कारण इनकी शिष्य मण्डली 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा करती थी। नि सन्देह वे इस पदवी के अधिकारी भी थ। इस शताब्दी म और इसके बाद भी जैन ग्रन्थो और टीकाओ की बाढ सी आ गई। इन दिनो की लिखी हुई सिद्धात-ग्रथो की अनेक टीकाए बहुत ही महत्वपूर्ण है। असल मे यह युग ही टीका का था, भारतीय मनीषा सर्वत्र टीका म व्यस्त थी। मूल ग्रथा की टीकाय, उनकी भी टीकाय—इस प्रकार कभी कभी यह टीका परम्परा छ-छ, आठ आठ पुश्त तक चला करती थी। लेकिन ये टीकाय सर्वत्र चिन्तन की परतत्रता की द्योतक नहीं थी। कभी कभी तो ये स्वतत्र ग्रथ ही हुआ करती थीं। शुरू

शुरू म तो यह मात और भी सच थी। प्राचीन मथा को उन स जोड रखन का उद्देश्य यही हुआ करता था कि इन को आय सम्मत सिद्ध किया जा सके।

मैं यहां जैन आचार्यों के लिखे विविध पुराण ग्रथ और नाना प्रकार क आख्यान ग्रन्थों की सूचि गिना कर आप का समय नष्ट नहीं करना चाहता, यद्यपि भारतीय कथा-साहित्य का विद्यार्थी इन ग्रन्थों में काफी रस पा सकता है। विमल सूरि का पद्म चरित नामक प्राकृत ग्रन्थ, जिस म रामायण की कथा जैन परम्परा क अनुसार वर्णित है, बहुत ही मनोरजक ग्रथ है। इसी प्रकार का एक ग्रन्थ सातवीं शताब्दी म रविषेण ने लिखा था जो प्राय विमलसूरि क ग्रन्थ का ही संस्कृत रूपान्तर सा है। ऐसी कथायें गुणभद्र क उत्तरपुराण म और हेमचन्द्राचार्य क 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित' म भी आई हैं। अन्तिम कथा जैन रामायण क नाम स प्रसिद्धि पा चुकी है।

परन्तु इन कथा आख्यायिकाओ के प्रसग म जैन ऐतिहासिक प्रबन्धों की चर्चा न करू तो मैं भारतीय साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अग की उपेक्षा करने का दोष-भागी हूंगा। चन्द्रप्रभ सूरि का प्रभावक चरित, मेरुतुग का प्रबन्ध चिंतामणि, राजशेखर का प्रबन्ध कोष, जिनप्रभ सूरि का तीर्थकल्प इत्यादि रचनाय नाना दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन मे

से कइ एक को अति परिश्रम और सावधानी के साथ हाल ही मे मुनि श्री जिनविजयजी ने सम्पादित किया है। उनकी इस सम्पादित ग्रन्थमाला ने निश्चित रूप से भारतीय विद्वत्ता का सम्मान बढाया है।

इसी सिलसिले मे जैन मुनियो की लिखी हुइ कहानियो की पुस्तको का नाम भी लिया जा सकता है। पालित्तसूरि की 'तरगवती' कथा काफी प्राचीन पुस्तक है। हरिभद्र का प्राकृत काव्य 'समराइच्च' भी एक धार्मिक कथा काव्य है। धनपाल का अपभ्रश काव्य 'भविसयत्त' भी काफी मनोरजक और महत्त्वपूर्ण काव्य है। ऐसी और भी अनेक कहानिया है जो बहुत कुछ साम्प्रदायिक कट्टरता से परे है। और वे पुस्तके निश्चित रूप से जैन ग्रन्थो पर लगाये गये दो दोषो का क्षालन कर सकती है। ये दो दोष है—शुष्कता और मानव-रस (human interest) का अभाव। जैन आचार्यो ने कथाओ का एक विशाल साहित्य निर्माण किया है जो नाना दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। इन से जन-साधारण की मनोवृत्ति के अध्ययनेच्छुक विद्यार्थी को तो मदद मिलेगी ही पर वे लोग भी बहुत आनन्द पायगे जो मानव-रस के प्यासे है। इन के सिवाय जैन आचार्यो ने नाटक, चम्पू आदि काव्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्र मे असख्य ग्रन्थ लिखे है, जिन मे बहुत कम छपे है, और जो छपे है उन मे भी बहुत

साहित्यिक क्षेत्र मे बौद्धों की अपेक्षा बहुत अधिक अमाम्प्रदा यिक रहे हैं।

पर जैन पंडितों की सब से बड़ी देन है—उनका लोक-भाषा पर दृढ़ता पूर्वक जमे रहना। यह जैन आचार्यों की ही कृपा का फल है कि अपभ्रंश भाषा के काव्य और व्याकरण अभी तक उपलब्ध हैं। जैन पंडित वर्तमान भाषाओं में से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, तेलुगु, तामिल और विशेष रूप से कन्नड़ या कनाडी साहित्य के आदिकाल के निर्माताओं में से हैं। कनाडी साहित्य में तो ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक इन्हीं लोगों का एकाधिपत्य रहा है। कहते हैं कि कनाडी के समस्त उपलब्ध साहित्य का प्रायः दो तिहाई हिस्सा जैन विद्वानों के रचे साहित्य का है।

इस प्रकार नाना दृष्टियों से जैन साहित्य बहुत ही महत्त्व पूर्ण है। वह भारतीय साहित्य के आदिकाल से ले कर अब तक कभी प्रत्यक्ष रूप से और कभी अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय जीवन, साधना और साहित्य को प्रभावित करता रहा है और निसंदेह भविष्य में भी करता रहेगा।

देवियो और सज्जनो, ग्रंथों और ग्रंथकारों के नामों के इस शुष्क बीहड़ में बड़ी देर तक मैंने आपको भटका रखा। मैं जैन साहित्य के मर्मस्थल तक आप को ले जाने में असमर्थ रहा, इसके लिये मैं क्षमा मांगता हूं। मेरे लिये इस अल्प काल

मे ऐसा करना संभव नहीं था। परन्तु विदा लेते लेते मैं आप को याद दिला देना चाहता हूँ कि जैन साधना और जैन साहित्य की अखण्ड जीवन-शक्ति के मूल मे जो रहस्य है, वह उसकी सैद्धान्तिक दृढता है। जैन विद्वान सिद्धान्त के आगे कभी झुकने को राजी नहीं हुए, उन्होंने परिस्थितियो और सुयोग या दुर्योग से कभी सुलह नहीं की। अपने संयम, त्याग, नियम और कठोर व्रत पर वे पहाड की भांति अटल खड़े रहे, उन्होने कभी समझौता करने की नहीं सोची। कष्ट आये और उन्होंने उन्हें झेल लिया, दुर्दिन आये और उन्होंने उनका मुकाबला किया पर कभी भी इन से दे-लेकर निवटने की कोशिश उन्होंने नहीं की। यही कारण है कि यद्यपि वे देश-दशान्तर मे नहीं फैल सके, पर काल से कालान्तर तक अपने प्राय मूल रूप मे ही व जरूर फैल सके। जैन शास्त्रों मे जो शुष्कता दीखती है, वह उसी अनमनीय सिद्धान्त-प्रेम के कारण है। मानव-रस की कमी उन मे इसलिये है कि वे इस बात मे विश्वास करते थ कि मनुष्य-दुर्वलता के प्रति सहानुभूति दिखाना उस को शह देने के समान है। उन्होंने व्रत और नियम को मनुष्य से उपर माना। ऐसा मानना ठीक हो सकता है, नहीं भी, पर हमारे आज के विचारणीय विषय के लिये वह निश्चित रूप से उसकी अखड जीवनी शक्ति का कारण है। हजारों-वर्ष के इस सुदीर्घ जीवन मे

नजदीक आने में देरी नहीं लगती है। और आदमी भागे भी, तो किस तरफ और किस तरह भागे? घास में से रास्ता निकालना कठिन होता है। और जब हवा चलती है, तब तो ज्वालाएँ चाहे जिस दिशा में फैलने लगती हैं।

ऐसी हालत में बचने का एक ही उपाय रहता है। जहाँ कहीं आदमी खड़े हों, वहीं पर वे घास उखाड़ना या काटना शुरू कर दें और अपने आसपास जितनी हो सके अधिक से अधिक जगह खुली कर दें। जहाँ घास है, वहीं पर आग का डर है। जहाँ घास है ही नहीं, वहाँ आते ही आग आप ही आप शान्त हो जाती है। 'अतृण पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'।

आज विश्व-व्यापी युद्ध की ज्वालाएँ हमारे नजदीक आने लगी हैं। रोज सुबह उठ कर यही देखना पड़ता है कि आज कौन सा देश युद्ध में शरीक हुआ है—आज कहाँ पर नई ज्वालाएँ सुलगी हैं।

पुराने युद्ध स्थानिक होते थे। दो देशों की फौज आपस में कुछ दिनों के लिये लड़ी, कुछ फैसला हो गया और फिर से शान्ति स्थापित हो गयी, सारी मनुष्यजाति युद्ध के दावानल में नहीं फँसती थी। पुराने युद्ध किसी राजा के कीर्ति लोभ या जमीन-लोभ के कारण होते थे। अब के युद्ध विश्वव्यापी आर्थिक संगठन के हैं—महाजातियों को स्वा

जाने जाते हैं। और उनके पीछे मनुष्य सगठन के सिद्धान्त-भेद का भी ख्याल रहता है। रशिया को न केवल राज्य-तृष्णा है किन्तु साम्यवाद का भी दुनिया मे प्रचार करना है। जर्मनी को विजय होने से उसे अपने ढग का राज्य चलाना है। और अंग्रेजों को अपनी जमायी हुई राज्य-पद्धति रखनी है।

इङ्गलैंड और अमेरिका प्रजा सत्ता की दुहाइ देते है। जर्मनी की राज्य पद्धति कैसी है, उसको दूर से देख कर ही हम समझ गये हैं। रशिया व साम्यवाद मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का क्या होगा, यह भी हम जानते हैं। अगर भारत-वासी को हृदय से पूछा जाय तो वह कहेगा कि हमारा इन तीनों मे से किसी से भी सम्बन्ध न हो तो भगवान की कृपा। इन तीनों की राज्य पद्धति मे युद्ध तो ध्रुव ही है। जिस तरह हरएक उपन्यास के अन्त मे नायक-नायिका की शादी आवश्यम्भावी है, इसी तरह हरएक राष्ट्र की प्रगति की पद्धति व पीछे युद्ध आ ही जाता है। प्रगति क फल स्वरूप युद्ध अनिवार्य हो गया है। और हम तो पाशवी युद्ध से बचने का तरीका ढूढ रहे हैं।

आज की दुनिया की हालत जरा ध्यान से देखें।

जितने क्रिश्ची राष्ट्र कहलाते हैं, वे सब के सब लड रहे हैं। चीन और जापान अगर बौद्ध राष्ट्र गिने जायँ तो व

भी आपस मे लड रह हैं। इस्लामी और हिन्दू राष्ट्र अभी तक युद्ध से अलिप्त हैं। और धर्म मात्र का विरोधी, साम्यवादी रशिया अपना मौका ताक रहा है।

अमरिका की तैयारी है। रशिया तैयार है। मुसलमान राष्ट्र कुछ दूरदृष्टि से आज तक अलिप्त रहे हैं। किन्तु रशिया उन्हें युद्ध म खींचे बिना नहीं रहगा। सरकारी तौर पर हिन्दुस्तान युद्धयमान होते हुए भी राष्ट्रीय भारत युद्ध स अलिप्त है और उसकी अलिप्तता अन्य सब राष्ट्रों की अपेक्षा कुछ विशेष है। उसने विचार पूर्वक तत्त्वनिष्ठ होकर युद्ध टालने का निश्चय किया है। सारी दुनिया मे हिन्दुस्तान की यह भूमिका अलौकिक है। लेकिन दुर्बल हिन्दू और मुसलमान आपस में लड कर अहिंसा का राष्ट्रीय पुण्य खाक में मिला दत हैं। इसमे साधारणतया हिन्दू कह सकते हैं और य कहत भी हैं कि "हम कहाँ लडने जाते हैं? हम तो सिर्फ हम पर जो नाना-यज हमला होता है, उसका स्वाभाविक प्रतिकार करत हैं।"

उद्देश्य कुछ भी हो, परिणाम एक ही है। लडने की वृत्ति का रोग सर्वत्र फैल रहा है, सर्वत्र युद्ध मच रहा है।

एस जगत में अहिंसा पर श्रद्धा की अविचल मगल दृष्टि रख कर राष्ट्र को कल्याण का मार्ग दिखात रहना धर्मावतार का ही काम है। आज तक जितने अवतार हुए, उन्होंने अहिंसा को इतनी सूक्ष्मता से नहीं पहचाना था और इतनी

दृढ़ता से जीवन के अंगोपांगों में उसका विनियोग भी नहीं बताया था। अखिल मनुष्यजाति का ध्यान इसके पहले अहिंसा की ओर इतना खींचा भी नहीं गया था। दुनिया की श्रद्धा अहिंसा पर आज भले ही न बैठे, और हरएक राष्ट्र की महाप्रजा भले ही हिंसामूर्ति बन गयी हो, लेकिन दुनिया में आज एक भी आदमी ऐसा नहीं रहा है जो हिंसा को कल्याणकारी समझता हो। हिंसा अपरिहार्य है, हिंसा के बिना हम बच नहीं सकते हैं, ऐसी ही पुकार सब तरफ से सुनी जाती है। और हरएक राष्ट्र कहता है कि युद्ध हम पर लादा गया है। हम तो शांति से ही रहना चाहते थे, किन्तु हमारे दुश्मन हमें वैसा नहीं करने देते हैं। आज का विश्व-विजय भी आत्मरक्षा का ही एक रूप है।

ऐसी दुनिया में अकेले गांधीजी ही यह श्रद्धा धारण किये हुए हैं कि एक समूचा राष्ट्र अहिंसा का स्वीकार कर सकता है, पालन कर सकता है। और अन्य राष्ट्रों के नेता इस श्रद्धा से चल रहे हैं कि युद्ध का जोश मनुष्य मात्र में पैदा किया जा सकता है।

अब सवाल इतना ही है कि क्या गांधीजी की श्रद्धा का स्वीकार कर यह देश युद्ध से मुक्त रहने की कोशिश करेगा— अहिंसा का वीर्य दिखायेगा? अगर गांधीजी की अहिंसा का बीज राष्ट्र के हृदय में बोया गया है तो राष्ट्र के काफी लोगों

म उनका जीवित संचार होना चाहिये। हिंसक युद्ध की तैयारी से अहिंसक युद्ध की तैयारी कम नहीं होती है। आज अंग्रेज और जर्मन लोग 'प्राणान्त्यक्त्वा धनानि च' लड़ने को तैयार हुए हैं। गांधीजी भी कहते हैं कि जान माल का मोह सत्याग्रही को छोड़ना ही चाहिये। तपस्वी वैरागी की तरह नहीं, किन्तु निर्भय वीर की तरह जान और माल की परवा हमें छोड़नी चाहिये। हिटलर और चर्चिल अपने अपने राष्ट्र को कहते हैं कि सबस्व का नाश हुआ तो भी बहतर, लेकिन अपने राष्ट्र की इज्जत और आजादी के लिये मारते जाओ और मरते जाओ। गांधीजी भी कहते हैं कि "अपना कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह जालिमों का है। अपना है सिर्फ अपना हृदय और अपना आत्मतत्त्व। इसी के सहारे आत्मा की रक्षा करो, यानी प्रेमधर्म की रक्षा करो, किसी से डरो नहीं और किसी का नाश करो नहीं। स्वयं निर्भय होकर दुनिया को अभय-दान दे दो।"

एक बात हमें अच्छी तरह से समझनी चाहिये। गांधीजी नहीं लड़ने की बात नहीं करते हैं, युद्ध का त्याग नहीं सिखाते हैं। धर्म युद्ध आवश्यक है—दोनों पक्षों को पावन करनेवाले है। युद्ध के बिना आत्मा जागृत नहीं रह सकता है, आत्मा की रक्षा नहीं हो सकती है। लेकिन वह युद्ध शुद्ध अहिंसक युद्ध हो, उस में प्रेमधर्म का, अभयदान का तरिके भी

द्रोह नहीं होना चाहिये। हिंसक युद्ध में शत्रु के अधिक से अधिक लोगों को मारना, घायल करना, या युद्ध के लिये नाकाबिल बना देना और अपने लोगों की जान और लड़ायक शक्ति बचाते रहना, यही मुख्य उद्देश्य होता है। अहिंसक युद्ध में शान्ति सेना का हरएक आदमी अपनी जान के लिये बे-परवा होता है और शत्रु का रुधिर गिरा कर अपना पक्ष सबल करना कबूल नहीं करता है। अहिंसक योद्धा शत्रु के सैनिकों को मारता नहीं है, लेकिन उनकी शत्रुता ही नष्ट कर देता है। शत्रु को डरा कर नहीं लेकिन उसे निर्भय करके वह उसकी युद्ध-योग्यता हटा देता है। अगर हम किसी की तलवार को तोड़ते नहीं हैं लेकिन उसकी तलवार को पारसमणि का स्पर्श कर देते हैं, तो भी उसके शस्त्र तो हमने छीन ही लिये हैं।

शत्रु हमें मारता है—इसी हेतु से कि हम और हमारे पक्ष के लोग अपने नाश से डरें और और शत्रु की शरण जाय। सत्याग्रह में इस बारे में शत्रु को निराश करने की बात होती है। शत्रु की हिंसा करने की जितनी शक्ति हो, उससे अधिक अगर हमारी बलिदान देने की शक्ति बढ़ गयी, तो हमारी जीत ही है। शत्रु को मारने से या तो उसका जोश बढ़ता है या उसका द्वेष। डरपोक लोगों में तो हिंसा-वृत्ति सब से अधिक होती है। जहाँ अहिंसक बहादुरी है, वहाँ शत्रु-पक्ष को बढ़ने का कुछ भी सहारा नहीं मिलता है। ऐसे युद्ध में दुनिया के सामने और अपने

हृदय क सामने हिंसक आदमी तिरस्करणीय जल्लाद ही बन जाता है। और मनुष्य हृदय को यह स्थिति बिल्कुल हजम नहीं होती है।

अगर दुनिया मे इश्वर है, तो गांधीजी क इस अहिंसक युद्ध धर्म की विजय ही होगी और वह सर्वत्र फैल जायगा।

यहां ईश्वर क माने हैं निरपवाद, नि स्वार्थ सार्वभौम प्रेम। इस इश्वर का प्रादुर्भाव तो हुआ है, किन्तु अभी उसका राज्य स्थापित नहीं हुआ है। गांधीजी कहत हैं कि हम इश्वर का स्वीकार करें और उसक सैनिक बन कर के उसक राज्य की स्थापना करने में अपना सर्वस्व अर्पण करें।

(२)

यहां एक प्रश्न उठता है कि जब अमेरिका के लोग गांधीजी को अपना सिद्धान्त सुनाने क लिये बुलाते थे, तब गांधीजी वहां पर क्यों नहीं गये? अगर गांधीजी अमेरिका में कुछ असर कर के आते तो आज क युद्ध मे उसका लाभ नहीं मिलता? प्रश्न उठना स्वाभाविक है। गांधीजी अमेरिका न गये, उसका भी कुछ रहस्य है। अमेरिका का स्वातन्त्र्यवाद और प्रजातन्त्रवाद कितना भी सुन्दर हो, उसकी बुनियाद मे सैन्य शक्ति यानी बाहुबल ही है। अमरिका का हिंसा पर का विश्वास कम होने क लिये कोइ ऐतिहासिक कारण पैदा नहीं हुआ है।

दूसरा एक मुख्य कारण यह है कि अमेरिका सारी दुनिया में सब से अधिक धनी है। उसके पास जाकर उसे सिखाने का प्रयत्न करना अपनी प्रतिष्ठा को खोना है और उसकी धन-परायणता को अधिक मजबूत करना है। अमेरिका ही एक ऐसा देश है कि जिसके पास जा कर सिखाने से वह सीखने वाला नहीं है। जब वह कभी भी कुछ चमत्कार देखेगा, तब स्वयं ही आकर सीखने की कोशिश करेगा।

जब कभी कोई अमेरिकन गांधीजी को बुलाने आये हैं, तब उन्होंने यही कहा है कि "मुझे अपने देश के द्वारा अहिंसा का चमत्कार सिद्ध करने दो। अमेरिका आप ही आप आकर उसे अच्छी तरह से समझ लेगा।"

जब कभी किसी अमेरिकन ने गांधीजी से पूछा है कि अमेरिका के लिये आप का क्या संदेश है, तब गांधीजी ने अत्यन्त नम्र शब्दों में अपना वज्रप्राय आत्म-विश्वास इन शब्दों में प्रकट किया है—"भारत में हम लोग यह जो बड़ा और अलौकिक प्रयोग कर रहे हैं, उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने को मैं अमेरिका को कहूंगा। अगर इसमें से कुछ मिले तो अमेरिका के लोग अपनी शक्ति के अनुसार उसी चीज को ग्रहण करने और बढ़ाने की कोशिश करें।

जब कभी किसी अमरिकन ने गांधीजी को पूछा है कि अमरिका आप की क्या सहायता कर सकता है, तब गांधीजी ने कहा है कि "अमरिका जैसे देश की मित्रता और सहानुभूति की कद्र हम अवश्य करते हैं, लेकिन अमेरिका हमारी सहायता कुछ नहीं कर सकेगा।"

इस पर से सिद्ध होता है कि अमरिका सिखाने से सीखने वाला नहीं है, वह देख कर ही सीखेगा।

और रशिया ? रशिया ने हिंसा के द्वारा ही अन्याय का प्रतीकार किया है, हिंसा के द्वारा ही जनता को स्वतंत्र करने की आशा रखी है। रशिया जब देखेगा कि भारत के लोगों ने अहिंसा के रास्ते एक ऐसा साम्ययोग स्थापित किया है, जो रशिया के साम्यवाद से कहीं अच्छा है, तभी जा कर वह अहिंसा की बात सुनने को तैयार होगा।

अँग्रेज, जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन और जापानी चाहे जितने शक्तिशाली हों, इनके पास कोई भविष्य नहीं है। इन्होंने अपनी शक्ति का अन्त कर लिया है। इनकी जीवन फिलासफी का प्रयोग हो चुका है। अगर इनकी जीवन पद्धति में कोई अच्छा तत्त्व रहा हो, तो उसका आगे का प्रयोग इनके हाथों होने वाला नहीं है। इन सबों का उत्तराधिकारी अमेरिका ही है। अमेरिका को भले ही नई दुनिया कहते हों, लेकिन आज वह यूरोप की पुरानी दुनिया की ही प्रतिनिधि है।

अगर भविष्य किसी के पास है तो वह रशिया और हिन्दुस्तान के पास ही है। दोनों में ध्येयवाद है, दोनों में गरीबों के जीवन के प्रति आदर है, दोनों में मनुष्यजाति के उद्धार की लगन है। फरक सिर्फ साधन का ही है। रशिया का विश्वास भौतिक जीवन पर है, भारत का—भारत के सर्वोच्च नेताओं का विश्वास आत्मिक जीवन पर है। इसीलिये रशिया ध्येयवादी और सर्वकल्याणवादी होते हुए भी हिंसा के मार्ग पर विश्वास रखता है और हिन्दुस्तान अहिंसा पर।

अब, जो विश्व-विप्लव जगा हुआ है उसका अनिश्चित अन्त हो गया, तो और एक युद्ध, जो भयानक और सर्वनाशी युद्ध होगा, मनुष्यजाति को देखना पड़ेगा। किन्तु अगर यही युद्ध आगे बढ़ा तो इसमें अमेरिका को भी उतरना पड़ेगा और रशिया को भी। ऐसी हालत में हम कह सकेंगे कि हिंसा के मार्ग का जितना कुछ प्रयोग हो सकता है, मनुष्य-जाति ने कर देखा है। अब तो सिर्फ अहिंसा की ही परख करना बाकी है। अगर इस युद्ध में अमेरिका और रशिया उतर पड़े तो दुनिया हिंसा-शक्ति का परम उत्कर्ष देखेगी और उसकी व्यर्थता भी समझ जायगी। उसके बाद ही दुनिया को अहिंसा का ख्याल आ जायगा और वह प्रयोग करने को तैयार हो जायगी।

(३)

बुद्ध भगवान ने एक छोटे से वाक्य में युद्ध परम्परा का कारण बता दिया है। बुद्ध भगवान् कहते हैं—"जय वैर पसवति" और "दुख सेत पराजितो"। पिछले युद्ध में जर्मनी का नाश हुआ और मित्र राज्यों की विजय हुई, लेकिन दुनिया को शांति नहीं मिली। अगर मित्र राज्यों के पास धर्म राज्य का ही आदर्श था तो धर्म-राज्य की स्थापना के लिये उन्हें काफी समय मिला था। लेकिन ऐसा तो कुछ हुआ नहीं। जर्मनी के मन में वैर बढ़ता ही गया। सन् १९१८ की संधि के बाद जर्मनी एक भी दिन सुख से सोया नहीं है। 'दुख सेत पराजितो'।

और अगर इस युद्ध में इंगलैंड हार भी गया तो भी वह उसकी स्थायी हार थोड़े ही होने वाली है। इंगलैंड सवाई-जर्मन होकर तैयारी करेगा और जर्मनी को परास्त करने का मुहूर्त देखता रहेगा। इस तरह सेर के सामने सवा-सेर का न्याय चलता ही रहेगा। कोई भी पार्थिव शक्ति ऐसी नहीं है कि जिसके सामने उससे भी बढ़कर शक्ति पैदा हो न सके—"तिमिंगिल गिलोऽप्यस्ति, तद् गिलोऽप्यस्ति राघव"। (बड़े बड़े जहाजों को निगल जाने वाले मत्स्य को 'तिमि' कहते हैं, 'तिमि' को भी बिना काटे योंही निगल जाने वाला एक महा-मत्स्य है, जिसे 'तिमिंगिल' कहते हैं। उसे भी खा जाने वाला

'तिमिंगिल गिल' है। और उसे स्वाद करने वाला जो विराट् मत्स्य है, उसका नाम है राघव।) इस तरह बड़े को खाने वाला सवाई बड़ा दुनिया में पैदा होता ही है।

इसलिये यह एक दूसरे को खाने का मार्ग ही छोड़ देना चाहिये। इतनी दूरदर्शिता इस युद्ध के अन्त में मनुष्यजाति में आने वाली ही है। मनुष्य चाहे जितना उन्मत्त हुआ हो, पागल हुआ हो, सर्वनाश का समय ही ऐसा है, जब उसकी दृष्टि निर्मल होती है, और वह आगे का रास्ता ढूंढ निकालता है। व्यक्ति का नाश हो सकता है, जाति का नहीं। सर्वनाश के किनारे पहुंचते ही मनुष्यजाति की आँखें खुल जायँगी, और वह अहिंसा को समझने लगेगी, यही हमारा विश्वास है। इस विश्व-विप्लव की तरफ अगर इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो इसके अन्त में सर्वनाश ही ध्रुव है। किन्तु अगर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो इसके अन्त में महान पश्चात्ताप, आत्म-शुद्धि और सर्वोदय-कारी अहिंसा की विजय है।

शर्त इतनी ही है कि ऐसे कल्पांतिक क्षण में अहिंसा पर विश्वास रखने वाली कम से कम एक जाति हो, जो अपनी श्रद्धा को न खो कर अहिंसा को ही पकड़ रखे और उसी के हाथ में अपने को सौंप दे।

'मारना' व 'मरण देना'

[श्री काका कालेलकर]



[श्री काका साहब का नीचे लिखा पत्र श्री घनश्यामदासजी बिड़ला से हमने प्रकाशनार्थ ले लिया है। पत्र पढ़ने से स्पष्ट है कि वह प्रकाशन के लिए नहीं लिखा गया था। अगर काका साहब के बस की बात होती तो वे इसे प्रकाशित हो नहीं करते। लेकिन हमारे आग्रह से उन्होंने संकोच के साथ इसे छापने की इजाजत दी है।

काका साहब लिखते हैं कि कलकत्ते में जब उन्होंने श्री बिड़लाजी के "बापू" के प्रूफ पढ़े तब उसमें से बछड़ा-प्रकरण को लेकर उन्होंने वहाँ के पर्युषण पर्व में अहिंसा का विवेचन करते हुए उक्त प्रकरण का समर्थन किया था। जो समाज श्री दरबारीलालजी और मुनि जिनविजयजी की अहिंसा की कल्पना हजम कर सका, वही बछड़े के बारे में साबरमती के तट पर किए गये शुद्ध अहिंसा के प्रयोग का समर्थन सुन कर काफी उत्तेजित हो उठा। जैनियों की अहिंसा मानो पशु-पक्षी और कृमि-कीट को न मारने तक ही सीमित है। काका साहब इस प्रकरण को फिर से छेड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि आज उसका कोई प्रसंग या प्रयोजन नहीं है और नाहक का वाद विवाद वे पसन्द नहीं करते हैं। किन्तु इस पत्र के छपने से शायद यह चर्चा फिर से छिड़ उठे। उसे टालने के लिए उन्होंने हमारे द्वारा पाठकों से प्रार्थना की है कि उनका यह पत्र पढ़ कर उनकी दृष्टि अगर पाठक समझ सकें तो आनन्द की बात है। अन्यथा पाठक इस बछड़ा-प्रकरण को भूल जायँ और दुनिया में जो मनुष्य-संहार आज चल रहा है, उसे बन्द करने के मूलग्राही इलाज की बात सोचें।

—सम्पादक, 'जीवन-साहित्य']

(१)

जैसा कि मैंने कलकत्ते में आप से कहा था आपकी हिंसा-अहिंसा का आधार आपने गीता से लिया है और वह भी लोकमान्य के गीता-रहस्य से, और उसी की कसौटी पर आप गांधीजी की अहिंसा को कसते हैं। गांधीजी की अहिंसा समझने के लिये गीता की अहिंसा से आरम्भ नहीं करना चाहिये। बापू जी भले ही गीता को अपना जीवन कोष कहें और अपनी अहिंसा पूर्ण रूप से गीता में पावें किन्तु उनकी अहिंसा उनकी अपनी है। भारत के किसी भी धर्म या पंथ में वह पूर्णतया नहीं पायी जाती। हो सकता है कि बापू जी की अहिंसा उन्हें सीधी भारतवर्ष के हृदय से ही मिली हो।

गीता की अहिंसा, जैनियों की अहिंसा, गौतम बुद्ध का अवैर का सिद्धान्त, टॉल्सटॉय का अप्रतिकार, 'क्वेकर' लोगों का शान्तिवाद (Pacifism) और बापू जी की अहिंसा इन सब में साम्य है जरूर, लेकिन, बापू जी की अहिंसा जैसी है, वैसी औरों के उपदेशों में नहीं पाई जाती है। वह उनकी एकदम निजी—बिलकुल मौलिक चीज है और जीवनानुभव से विकसित हुई है। बापू जी की अहिंसा एक महान् निर्भय, अजातशत्रु विश्व-प्रेमी की अहिंसा है। वैदिक और यौगिक मैत्री करुणामुदिता के रूप की है। अगर उसके लिए गीता का कोई श्लोक उपयुक्त है तो वह है —

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
—गीता १३ २८

बापू जी की अहिंसा उनके व्यावहारिक और अमली अद्वैत से उत्पन्न हुई है। मैंने देखा है कि उनमें किसी के लिये द्वेष तो पैदा होता ही नहीं। और किसी का अध पात देखते ही वे मानों अपना ही अध पात हो रहा है, ऐसी आत्मीयता से अस्वस्थ और दु खी हो जाते हैं।

(७)

अहिंसा के इस अद्वितीय आधार से हम बछड़े के प्रकरण पर विचार करें। आपने अपने विवेचन में इस भूमिका को ग्रहण किया है कि जो स्थितप्रज्ञ है, वही बछड़े का खून कर सकता है। गीता का जो श्लोक है—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

उसी के आधार पर आपने बछड़ा प्रकरण का ऊहापोह किया है। मेरा ख्याल है कि इस सब घटना का सारा किस्सा दूसरी ही दृष्टि से देखना चाहिये। जब बछड़े की हर तरह से सेवा कर लेने के बाद भी साफ दिखाई दिया कि यह बछड़ा बचने वाला नहीं है और अब केवल मरण की वेदना का ही अनुभव कर रहा है, तब बापू जी ने केवल शुद्ध

दया भाव से प्रेरित होकर उस बेचारे के दुख का अन्त करने का निश्चय किया। पूज्य बापू जी ने अपना निश्चय प्रकट करके हम आश्रमवासियों की भी राय पूछी। हममें से किसी का यह दावा था ही नहीं कि हम स्थितप्रज्ञ हो चुके हैं। मैंने पूज्य बापू जी से कहा कि अपनी राय देने के पहले मुझे गोशाला में जाकर बछड़े की हालत अपनी आँखों से देखनी चाहिये। जब मैं गोशाला पहुंचा तब बछड़ा असह्य वेदना से संज्ञाहीन हो कर निश्चेष्ट पड़ा था। पहले तो मैंने समझा कि बेचारा सो रहा है, इसे जहर देने की क्या आवश्यकता है? पर थोड़ी देर में ही उसकी वेदना उठ खड़ी हुई। जमीन पर पड़ा पड़ा वह अपने पैर पटकने लगा। उसकी वेदना चुपचाप देखते रहना भी क्रूर कर्म था। मैंने तुरन्त अपनी राय दी कि बछड़े को 'मरण' देना ही चाहिए।

किसी को 'मारना' एक चीज है, 'मरण देना' दूसरी चीज है। प्यासे को हम पीने के लिए पानी देते हैं, भूखों को अन्न देते हैं, डरे हुए को आश्वासन देते हैं, बीमारों को दवा देते हैं, इसी तरह जिसे अन्तिम वेदनाएँ होती हों, उसको उसी के हित के लिए हम मरण और शान्ति देते हैं। मरण देकर ही हम उसे (दुःख से) बचा सकते हैं।

ऐसी समाज-सेवा करना, अपना उत्तरदायित्व समझने

वाले हरएक विचारवान सज्जन का धर्म है। इस धर्म के पालन के लिये स्थितप्रज्ञ की ऊंचाई तक पहुंचने की आवश्यकता ही नहीं है। जिस तरह डाक्टर व दन्त-वैद्य सलाह देते हैं कि हमारा दांत ठीक हो सकता है या उसे निकाल ही देना पड़ेगा, या जिस तरह डाक्टर राय देता है कि सडा हुआ पाव दवा से ठीक हो जायेगा या उसे काटना ही होगा। उसी तरह अमुक शरीर बच सकता है या उसे तो मरण देना ही श्रेयस्कर है, यह भी कोई सुयोग्य डाक्टर मरीज के स्नेही साथियों या सगे सम्बन्धियों के साथ सलाह करके निश्चित कर सकता है। जब शरीर के टिकने की आशा ही न रही तब वेदना सहन करने देने की अपेक्षा उसे मरण देकर शान्ति देना ही अधिक अच्छा है।

निस्सन्देह कभी कभी ऐसे निर्णय में भूल भी हो सकती है। लेकिन, भूल तो दवा करने में या नश्तर लगाने में भी हो सकती है। भूल होने के डर से अगर हम चिकित्सा ही न करें, तो वह सब से बड़ी भूल होगी।

बालकों के लिए माँ बाप ही निश्चय कर सकते है कि दवा दी जाय या नहीं। पशुओं के बारे में उनके पालक ही फैसला कर सकते हैं कि अमुक पशु को मरण देने की आवश्यकता है या नहीं।

मनुष्य प्राणी के लिए मरण का निश्चय करने के पहले हम

मरीज से पूछ सकते हैं और वह भी स्वयं अपनी इच्छा व्यक्त कर सकता है। पशुओं के प्रति हम इतने नाजुक होकर सोच नहीं सकते। अच्छे समाज में अपना उत्तरदायित्व समझ कर मरण देने की बात इतनी ही स्वाभाविक और साधारण होनी चाहिये जितनी कि आहार, दवा और आराम देने की बात होती है।

किसी प्राणी का देहान्त होना कोई बड़ा अनिष्ट है, ऐसा हम क्यों मानें? जैसे जीने के लिए हम मदद करते हैं, वैसे ही मरण पाने में भी मदद हो सकती है।

आज की दुनिया में जैसे लोभ, ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष आदि बेहद बढ़ गये हैं, उसी तरह जीने-जिलाने का मोह भी हद से ज्यादा हो गया है।

(३)

हिंसा करते समय मनुष्य किसी के अस्तित्व से ऊब जाता है या डर जाता है और उसे खतम करने में अपना लाभ देखता है। मरण देने में शुद्ध दया-भाव और सेवा-भाव ही होता है। इस कर्तव्य के पालन के लिए एक क्षण की भी स्थितप्रज्ञ अवस्था तक पहुंचने की आवश्यकता नहीं है। किसी के ऐसे मरण की जिम्मेदारी अपने सिर पर लेना कोई असाधारण बात नहीं होनी चाहिए। इतनी हिम्मत कोई भी विचारवान आदमी कर सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु एक ऐसी आत्यंतिक वेदना है कि उसके सामने साधारण सी वेदना तो कोई चीज ही नहीं है। लेकिन उससे यह नहीं सिद्ध होता कि मरण देन से हम उस प्राणी की वेदना को बढा रहे हैं। अगर मृत्यु में आत्यन्तिक वेदना है तो हम उसे किसी भी हालत में टाल नहीं सकते। मरण दो घंटे जल्दी देने से जीवन द्रोह नहीं होता है और बेचारे प्राणी की वेदना भी हम कुछ घंटे कम कर सकते हैं।

मेरी समझ में मेरी विचार प्रणाली स्वाभाविक और सहज ग्राह्य है। मनुष्यजाति में मरण के बारे में जो कायरता आ गई है उसी के कारण उक्त विचार भयानक सा प्रतीत होता है। हम मरण की जिम्मेदारी ले नहीं सकते, ऐसा कहना उसी कायरता का एक भिन्न रूप है।

इस दृष्टि से सोच कर बछडा प्रकरण का अपना विवेचन कृपया फिर से पढ़ें। 'यस्यनाहङ्कृतोभावो' गीता का यह श्लोक किसी का घात करने की—वध करने की इच्छा के साथ जाता है। बछडा प्रकरण में तो केवल अन्तिम वैधक सहायता देने का ही सवाल था।

* विश्व विप्लव और अहिंसा' विषय पर भाषण देते हुए श्री काका साहब ने महात्मा गांधी के बछडा प्रकरण का अहिंसा की दृष्टि से समर्थन किया था, जिस पर कुछ श्रोता उत्तेजित हो उठे थे। जैसा कि इस पुस्तक के प्राक्कथन में कहा जा चुका है, श्री काका साहब ने

उस समय अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए यह वादा किया था कि वे बाद में इस विषय पर लेख द्वारा विवेचन करेंगे जिससे लोगों को गम्भीरता पूर्वक सोचने की सामग्री और मौका मिलेगा। चूँकि श्री काका साहब ने यिढलानी को लिखे हुए इस पत्र में उस प्रकरण का विवेचन किया है, इसलिये इस पत्र का आवश्यक अंश 'जीवन साहित्य' से उसकी सम्पादकीय टिप्पणी सहित हमने यहाँ दिया है। इस पुस्तक में छपने से पहले श्री काका साहब ने 'जीवन-साहित्य' में छपे हुए पत्र को फिर से देख लिया है।—मंत्री



तरुण जैन संघ

का

विधान



नाम

१—इस संस्था का नाम 'तरुण जैन संघ' होगा।

कार्य-क्षेत्र

२—इस संस्था की प्रवृत्तियों का केन्द्रीय कार्य क्षेत्र कलकत्ता होगा, किन्तु आवश्यकतानुसार कार्य-समिति उसे भारत के अन्य स्थानों में भी फैला सकेगी।

उद्देश्य

३—इस संस्था के उद्देश्य निम्न लिखित होंगे—

(क) धार्मिक पक्षापक्ष व साम्प्रदायिक भेद भाव से मुक्त जैन युवकों का संगठन करना और उनमें आपस में प्रेम, सद्भाव और सहयोग की भावना उत्पन्न करना।

(ख) जैन समाज की प्रगति में बाधक होने वाले सामाजिक और 'धार्मिक' वहम तथा अन्धविश्वास, विचार-संकीर्णता एवं

रूढ़िजन्य जड़ता का विरोध करना तथा उनको समाज पर लादनेवाली हरक प्रकार की प्रतिगामी सत्ता के साथ असहयोग करना।

(ग) जैन समाज में घुसी हुई वतमान धमान्धता, जात्यन्धता और सम्प्रदायान्धता को दूर कर उसमें स्वतंत्र विचारणा प्रगतिशील चिन्तन और विशाल उदार एवं व्यापक दृष्टि उत्पन्न करना।

(घ) समाज-व्यवस्था तथा राज व्यवस्था में जिन मौलिक परिवतनों की आवश्यकता है उनके सम्बन्ध में लोक-शिक्षण के विविध साधनों द्वारा विचार जागृति उत्पन्न करना।

(ङ) जन सेवा तथा सत्य और अहिंसा के लोक-विधायक रचनात्मक कायक्रम की सफलता में योग देना एवं जैन समाज के युवकों में उसका प्रचार करना।

(च) देश में जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता और स्वावलम्बन की नाना प्रवृत्तियां चल रही हैं, उनमें योग देना और समाज में उन प्रवृत्तियों का प्रचार करना जिनके द्वारा विचारों के विकास रूढ़ि के विनाश और क्रान्ति के विस्तार की भावना का उत्पन्न होने और पुष्ट होने में मदद मिले।

सदस्यता के नियम

४—जैन समाज का प्रत्यक युवक और युवती, जिसकी उम्र सोलह वष से ऊपर की हो, नियमानुसार चुने जाने पर इस संस्था का सदस्य

हो सकता है। प्रत्येक सदस्य को निम्न लिखित बातों का पालन करना होगा—

व्यक्तिगत

(१) वह आदतन खादी या कम से कम स्वदेशी वस्त्र का व्यवहार करेगा और अन्य वस्तुओं में भी हाथ से बनी चीजों का ही व्यवहार करने की कोशिश करेगा।

(२) व्यापक दृष्टि में सत्य और अहिंसा की साधना में विश्वास रखेगा और तत्सम्बन्धी रचनात्मक कार्यक्रम की एक अथवा अधिक प्रवृत्तियों में क्रियात्मक रूप से भाग लेना अपने जीवन का अंग बनायेगा।

(३) संघ के उद्देश्यों में पूरा विश्वास रखेगा और उनकी पूर्ति के लिए जो प्रवृत्तियां चलाई जायेंगी तथा जो नियम बनेंगे, उनकी सिद्धि में योग देगा।

(४) किसी सामाजिक अथवा धार्मिक प्रश्न पर सम्मति प्रकट करने की आवश्यकता होने पर वह अपनी निरपेक्ष राय और धारणा निस्संकोच प्रकट करेगा।

(५) वह किसी सार्वजनिक संस्था में खुशामद तथा दूसरे अनुचित उपायों से अधिकार हासिल करने की हरगिज कोशिश नहीं करेगा और सत्य और अहिंसा के लिए चाहे जितने महत्त्व की जगह छोड़ देने को तैयार रहेगा।

सामाजिक

(६) समाज में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के तत्त्व को सदा कायम रखने का समर्थक होगा और उसका कुचलने वाले कार्यों का विरोध करेगा।

(७) सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में वह स्त्री की हीनता का समर्थक नहीं होगा।

(८) जाति-बंधन और जाति-बहिष्कार के दुरुपयोग व और अस्पृश्यता, अनुचित विवाह-सम्बन्ध, पर्दा आदि अनिष्टकारी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध का प्रयत्न करेगा।

(९) किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाने पर उसके लिए वैधव्य पालन अनिवार्य नहीं समझेगा और उसके पुनर्विवाह का समर्थक होगा।

(१०) वह ऐसे विवाह में भाग नहीं लेगा, जिसमें लड़के की आयु १८ वर्ष से और लड़की की आयु १४ वर्ष से कम होगी।

धार्मिक

(११) वह अपने को किसी सम्प्रदाय विशेष का अन्धानुयायी न मान कर जैन धर्म का अनुयायी मानेगा।

(१२) वह सभी धर्मों की उत्कृष्टताओं का समर्थक और सभी की बुराइयों का आलोचक एवं विरोधी रहेगा।

(१३) यदि कोई धार्मिक कहा जाने वाला वहम, विचार अथवा रूढ़ि देश और समाज की प्रगति और उत्कर्ष में बाधक

होगी, तो वह उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन अथवा उसका उच्छेद कराने का प्रयत्न करेगा और ऐसा करने में वह शास्त्रोक्त विधि निषेध की परवाह नहीं करेगा, और उस सम्बन्ध में अपने विचार खुलासा प्रकट करेगा।

(१४) वह मंदिरों में बढ़े हुए आडम्बर और शृंगार-वृत्ति का विरोध करेगा और इस बात का समर्थन और प्रचार करेगा कि देवद्रव्य का उपयोग जन-कल्याण के कार्यों में किया जाय।

(१५) मंदिरों और तीर्थों की दुर्व्यवस्था का विरोध करेगा और उसको मिटाने की चेष्टा करेगा।

(१६) साधु-संस्था के सम्बन्ध में वह विभिन्न सम्प्रदायों के भेदाभेद का जरा भी महत्व नहीं देगा, वरन् जिस भी साधु का जीवन और कार्य-कलाप समाज के लिए उपयोगी जान पड़ेगा, उसको इस संघ का सदस्य आदर योग्य गिनेगा बाकी सभी सम्प्रदायों के साधुओं की, जो प्रगति विरोधी विचारों वाले हैं और समाज के लिए जिनका जीवन निरुपयोगी है, समान रूप से उपेक्षा करेगा और यथावश्यक आलोचना करने को तैयार रहेगा।

राजकीय

(१७) वह सत्य और अहिंसा के मार्ग से स्वतन्त्रता प्राप्ति के ध्येय को स्वीकार करेगा और तत्सम्बन्धी राष्ट्रीय महासभा के विविध कार्यक्रम में यथा-सम्भव सहयोग देगा।

(ख) आगामी वर्ष के लिये पदाधिकारियों और कार्य-समिति के सदस्यों का निर्वाचन होगा।

(ग) संघ के विधान में यदि कोई परिवर्तन, संशोधन आदि कार्य-समिति पेश करेगी, तो उस पर विचार और निर्णय होगा।

[नोट—वार्षिक अधिवेशन में केवल कार्य-समिति द्वारा पेश किये हुए संशोधनों पर ही विचार होगा, इसलिए सदस्यगण चाहें तो अपनी तरफ के संशोधन कार्य-समिति के पास वार्षिक अधिवेशन की तिथि से दो सप्ताह पहले तक भेज दें।]

कार्य-समिति और पदाधिकारी

१०—संघ के पदाधिकारियों और कार्य-समिति का संगठन निम्न प्रकार होगा—

(क) अध्यक्ष (ख) उपाध्यक्ष (ग) मंत्री (घ) छः अन्य सदस्य।

पदाधिकारियों और कार्य-समिति के सदस्यों का चुनाव संघ के वार्षिक साधारण अधिवेशन में होगा।

कार्य समिति के अधिकार

११—संघ के उद्देश्यों और नियमों के अनुसार सम्पूर्ण कार्यवाही का संचालन करने, आय-व्यय का नियन्त्रण करने और संघ के अन्तर्गत होने वाली प्रवृत्तियों का उत्तरदायित्व संभालने का भार संघ की कार्य-समिति पर होगा।

कार्य समिति के नियम

१२—कार्य-समिति के निम्न लिखित नियम होंगे—

(१) कार्य-समिति की कम से कम एक बैठक प्रति मास हुआ करेगी।

(३) हरेक बैठक में तीन सदस्यों का कोरम समझा जायगा।
(३) प्रत्येक बैठक की सूचना सदस्यों को कम से कम दो दिन पहले भेज दी जायगी।
(४) वर्ष के बीच में कार्य-समिति में कोई स्थान रिक्त होने पर संघ के साधारण सदस्यों में से कार्य-समिति उस स्थान की पूर्ति कर लेगी।

पदाधिकारियों के अधिकार

१३—पदाधिकारियों के अधिकार निम्न प्रकार होंगे—

अध्यक्ष—संघ के अध्यक्ष संघ की साधारण सभा के तथा कार्य-समिति के अधिवेशनों के सभापति होंगे और संघ के नियमानुसार कार्यवाही का संचालन करेंगे।

उपाध्यक्ष—अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष कार्य-समिति तथा साधारण सभाओं की बैठकों में अध्यक्ष के अधिकारों और उत्तरदायित्व का पालन करेंगे।

मंत्री—संघ का मंत्री संघ के उद्देश्यों, नियमों और कार्य-समिति के निश्चयों के अनुसार संघ की विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन करेगा। अध्यक्ष की सहमति से साधारण सदस्यों की तथा कार्य-समिति की बैठक निमंत्रित कर सकेगा। संघ की आमदनी और खर्च की सारी व्यवस्था कार्य-समिति की सूचना के अनुसार करेगा। संघ की तरफ से पत्र-व्यवहार, लिखा पढ़ी तथा प्रकाशनादि करने का उत्तरदायित्व मंत्री पर होगा।

साधारण सभा के नियम

१४—साधारण सभा के निम्न लिखित नियम होंगे—

(क) संघ की किसी भी साधारण या असाधारण सभा में कम से कम ७ सदस्यों की उपस्थिति कार्य-साधक संख्या (quorum) समझी जायगी। कोरम पूरा न होने पर यह सभा स्थगित हो जायगी किन्तु जब स्थगित सभा की बैठक होगी, तो उसमें कोरम का बंधन नहीं रहेगा।

(ख) साधारण सभा की सूचना सदस्यों को कम से कम तीन दिन पहले भेज दी जानी चाहिए।

(ग) किसी प्रश्न पर विचार करने के लिए यदि संघ के कम से कम ११ सदस्यों का लिखित पत्र मंत्री के पास साधारण सभा बुलाने के लिए आयगा, तो मंत्री को उस दिन से १५ दिन के भीतर भीतर साधारण सभा बुलाना होगी। उक्त समय के भीतर वह सभा नहीं बुलायगा, तो पत्र भेजने वाले सदस्यों को साधारण सभा बुलाने का अधिकार होगा। यदि उस सभा में साधारण सभा का कोरम संख्या पूरी नहीं होगी, तो वह पत्र (requisition) रद्द हुआ समझा जायगा। सभा में केवल उन्हीं प्रश्नों पर विचार हो सकेगा जो मंत्री के पास भेजे हुए पत्र (requisition) में उल्लिखित होंगे।

सदस्यता-विच्छेद

१५—कार्य-समिति को यह भी अधिकार होगा कि वह किसी सदस्य

का नाम सघ की सम्य-सूची से हटाना चाहे, तो बिना कारण बताये वैसा कर दे।

विधान में संशोधन

१६—सघ के विधान में परिवर्तन या संशोधन सघ के वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों के कम से कम तीन-चौथाई बहुमत से हो सकेगा।

मुखपत्र और अन्य प्रकाशन

१७—(क) 'तरुण जैन' सघ का मासिक मुखपत्र होगा, जिसका उद्देश्य सघ की नीति के अनुकूल विचारों का पोषण और प्रचार करना होगा। इसके सम्पादक या सम्पादकों का निर्वाचन सघ की कार्य समिति द्वारा किया जायगा। पत्र के नियम, नीति और सारी व्यवस्था की जिम्मेदारी और सत्ता सपादकों के हाथ में होगी परन्तु कार्य-समिति का निर्णय उन्हें सर्वदा मान्य होगा।

(ख) सघ के प्रत्येक सम्य को मुखपत्र की एक प्रति निःशुल्क मिलेगी।

(ग) सघ समय समय पर जो दूसरे प्रकाशनादि करेगा, उसकी भी एक एक प्रति सघ के सदस्यों को आधे मूल्य में प्राप्त हो सकेगी।

सदस्य सख्या

ता० १६४

श्रीयुक्त मन्त्री जी,

तरुण जैन संघ

कलकत्ता।



प्रिय महोदय,

मैं 'तरुण जैन सघ' का सदस्य होने का इच्छुक हूँ। मैंने सघ के उद्देश्य और नियम अच्छी तरह स पढ और समझ लिये हैं। मैं उनका समुचित रीति से पालन करता रहूँगा, और न कर सकने की हालत में सघ की सदस्यता स त्याग-पत्र दे दूगा।

इस आवदन-पत्र के साथ मैं सघ के नियमानुसार प्रवश-शुल्क के रु० २) भेज रहा हूँ और मासिक शुल्क बरानर देता रहूँगा।

भवदीय,

हस्ताक्षर ______________

पता ______________

____

____